द्वैमासिक मार्च-अप्रैल 2010
10 रुपये

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

आह्वान

कॉमनवेल्थ में "कॉमन" क्या और "वेल्थ" किसका?

बजट 2010 : धनपतियों की चाँदी जनता की बरबादी

साम्प्रदायिक दंगों का निर्माण

पूँजी की सेवा में विज्ञान

महिला आरक्षण : वर्गीय एकजुटता को कुन्द करने की साजिश

भगतसिंह के जेल नोट्स के कुछ नये और दुर्लभ अंश

वर्ग समाज में भाषा – न्यूगी वा थ्योंगो

लैंग्सटन ह्यूज की कविताएँ

जनता का इतिहास लेखक : हावर्ड ज़िन

सपनों को कसकर पकड़ रखो
क्योंकि अगर सपने मर गये
तो जीवन है टूटे परों वाली एक चिड़िया
जो उड़ नहीं सकती।

सपनों को कसकर पकड़ रखो
क्योंकि सपनों के बग़ैर
जीवन है एक बंजर खेत
बर्फ़ से ढँका हुआ।

— लैंग्सटन ह्यूज़

आह्वान के बारे में कुछ महत्वपूर्ण विचारबिन्दु

➢ भारतीय क्रान्ति का रास्ता मेहनतकश वर्गों के नेतृत्व में साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी क्रान्ति का रास्ता है। यह नई समाजवादी क्रान्ति का रास्ता है। यह शहीदेआजम भगतसिंह का रास्ता है। क्रान्ति ही नाउम्मीदों की उम्मीद है। रसातल के अन्धेरे में जीने वालों की जिन्दगी की रोशनी है। मृत्यु के अवसाद को तोड़ने वाले उत्सव का आह्लाद है। ''आह्वान'' इस तूफान का मुक्त कण्ठ से आह्वान करता है। ''आह्वान'' इस तूफान का आनन्द लेने के लिए सभी युवा तूफानी पितरेल पक्षियों को न्यौता देता है।

➢ पूरा भारतीय समाज आज एक ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा है। अब यह सच्चाई एकदम उजागर हो चुकी है कि रुग्ण-विकलांग, बूढ़ा-बौना भारतीय पूँजीवाद आम जनता को कुछ भी सकारात्मक नहीं दे सकता। मेहनतकशों की जिन्दगी को इसने लूटमार, उत्पीड़न-शोषण और असह्य पीड़ा- व्यथा के अँधेरे रसातल में ढकेल दिया है। अथाह दुखों के सागर में ऐश्वर्य के द्वीप और विलासिता की मीनारें, संसद में पूँजीपतियों की दलाल चुनावी पार्टियों के बहसबाजों की धींगामुश्ती, विदेशी लुटेरों को लूट की खुली छूट, भ्रष्टाचार के नित-निरन्तर भंग होते कीर्तिमान, संवेदनाओं को कुंद करती विकृत-बीमार साम्राज्यवादी-पूँजीवादी संस्कृति का धीमा जहर, संचार माध्यमों पर पूँजी की सर्वग्रासी पकड़, दिवालिया अर्थतंत्र, नंगा राजनीतिक तंत्र, बिकता न्याय, बेतहाशा मँहगी होती जा रही निरर्थक अनुपयोगी-अवैज्ञानिक शिक्षा, मामूली चिकित्सा के अभाव में मरते लोग–यही आज का वह नारकीय सत्य है जिसे फिलहाल, हारी हुई मानसिकता के शिकार लोगों ने अपनी नियति मान लिया है। इसे बदलने का रास्ता क्रान्ति का रास्ता है। क्रान्ति कठिन है, क्रान्ति का रास्ता लम्बा है, ध्वंसकारी है, पर इसके बिना नये का निर्माण असम्भव है। यही आज का ठण्डा सत्य है–नंगा सत्य है–पर यही मुक्तिदायी सत्य है। यही 'आह्वान' का निर्भीक उद्घोष है।

इस अंक में

अपनी ओर से
कॉमनवेल्थ में "कॉमन" क्या और "वेल्थ" किसका? 5

अर्थजगत
बजट 2010 : ''सक्षमकारी राज्य'' का फण्डा यानी धनपतियों की चाँदी और जनता की बरबादी 8

समाज
साम्प्रदायिक दंगों का निर्माण 11

विज्ञान
पूँजी की सेवा में विज्ञान 13

सामयिकी
गुजरात : पूँजीवादी इंसाफ़ का रास्ता बेइन्तहा लम्बा, टेढ़ा-मेढ़ा और थकाऊ है 17
माया की माला और भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र के कुछ जलते सवाल 18
पैसा दो, ख़बर लो : चौथे खम्भे की ब्रेकिंग न्यूज 23
विकास के रथ के नीचे भूख से दम तोड़ते बच्चे 24
सार्वजनिक वितरण प्रणाली : आम जनता का छिनता बुनियादी हक 26
प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह की लफ़्फ़ाज़ी 29

श्रद्धांजलि
प्रो. दलीप एस. स्वामी : एक जनपक्षधर अर्थशास्त्री 7
जनता का इतिहास लेखक : हावर्ड ज़िन 40

विरासत
राहुल सांकृत्यायन / गणेशशंकर विद्यार्थी 20
जेल में भगतसिंह द्वारा लिये गये नोट्स के कुछ नये और दुर्लभ अंश 21

सकर्मक विमर्श
महिला आरक्षण बिल : श्रम की वर्गीय एकजुटता को कुन्द करने की साजिश 31
सूचना का अधिकार : एक कागजी हथियार 33

भाषा-संस्कृति
वर्ग समाज में भाषा स्वयं वर्ग-संघर्ष का एक क्षेत्र बन जाती है – न्गूगी 35

साहित्य
लैंग्सटन ह्यूज की कविताएँ 43

विश्व पटल पर
साम्राज्यवाद के 'चौधरी' अमेरिका के घर में बेरोज़गारी का साम्राज्य 45

गतिविधि बुलेटिन
राष्ट्रीय शहरी रोज़गार गारण्टी अभियान 46
क्रान्तिकारी जागृति अभियान 47
पंजाब / लखनऊ में मनाया गया शहादत दिवस 48

मुक्तिकामी छात्रों युवाओं का आह्वान

वर्ष 2 अंक 2
मार्च-अप्रैल 2010

सम्पादक
अभिनव
सह-सम्पादक
कविता
सज्जा
रामबाबू

एक प्रति का मूल्य
दस रुपये

वार्षिक सदस्यता: **80 रुपये**
द्विवार्षिक सदस्यता: **160 रुपये**
पंचवर्षीय सदस्यता: **400 रुपये**
आजीवन सदस्यता: **2000 रुपये**

सम्पादकीय कार्यालय : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली, फोन: 011-64623928, 9211662298 ईमेल: ahwan.editor@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक एवं सम्पादक अभिनव सिन्हा द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित कराकर बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-94 से प्रकाशित किया।

पाठक मंच

अभी हाल में मुझे कुछ कार्यकर्ताओं के ज़रिये आपकी पत्रिका का जनवरी 2010 अंक पढ़ने को मिला। मुझे आश्चर्य और अफसोस हो रहा है कि इतने दिनों तक मैं इतनी अच्छी और आज के दौर के लिए ज़रूरी पत्रिका से कैसे अपरिचित रहा। इस अंक का सम्पादकीय पूँजीवादी संकट का बिल्कुल सटीक विश्लेषण करता है और युवाओं के सामने उपस्थित चुनौतियों से परिचित कराता है। कोपेनहेगेन सम्मेलन, भारतीय संविधान और यूपीए सरकार की शिक्षा नीति पर आपके लेख भी बातों को नयी रोशनी में रखते हैं और सोचने के लिए विचारोत्तेजक सामग्री देते हैं। धर्म और पूँजीवाद के रिश्तों पर सुजय का लेख भी बिल्कुल मर्म पर चोट करता है। मुझे नये अंक से पत्रिका का सदस्य बना लें। कोशिश करूँगा कि मेरे कुछ और मित्र भी सदस्य बनें।

आनन्द कुमार, नरेला, दिल्ली

प्रिय पाठक मित्रो,

लम्बे समय से जारी कोशिशों के बाद पिछले अंक से हमने **आह्वान** को द्वैमासिक कर दिया है। हालाँकि पिछले अंक में इस आशय का घोषणापत्र प्रकाशित किया गया था लेकिन सम्पादकीय विभाग की भूलवश पत्रिका में प्रकाशन अवधि 'जनवरी-मार्च 2010' छप गयी जबकि इसे 'जनवरी-फरवरी 2010' होना चाहिए था। इस भूल के लिए हमें खेद है। **आह्वान** का यह अंक 'मार्च-अप्रैल 2010' अंक है।

हमें उम्मीद है कि पत्रिका को आपका सहयोग पहले की तरह मिलता रहेगा।

– सम्पादक

एक अपील

'आह्वान' सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फ़ण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। हमारी यह दृढ़ मान्यता है कि जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ़ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए।

अत: हम अपने सभी पाठकों-शुभचिन्तकों-सहयोगियों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मजबूती प्रदान करें।

– सम्पादक

''धर्म एक ज़हर है''

कार्ल मार्क्स ने कहा था 'धर्म एक अफ़ीम है', जिन देशों के ये समझ में आ गया वहाँ स्थिति बदल गयी, वो ग़रीब थे अचानक विकसित हो गये, हमें समझ नहीं आया, तो हम ग़रीब के ग़रीब बने हुए हैं। हम नहीं समझ पाये कि जिसे हम अमृत समझ रहे हैं वो एक धीमा ज़हर है जो हमें और हमारे समाज को और हमारे देश को धीरे-धीरे नष्ट कर रहा है, इसी धर्मरूपी अफ़ीम ने हमें अन्धा कर दिया है, जिस कारण आज विज्ञान का प्रकाश पूरी दुनिया में फैलने के बावजूद हम अज्ञान के अन्धकार में डूबे हुए हैं। विज्ञान हमें चिल्ला-चिल्ला कर बता रहा है कि पृथ्वी गोल है और सूर्य का चक्कर लगाती है परन्तु हम धर्म के नशे में होने के कारण 'रामचरित मानस' का अखण्ड पाठ करवाते हैं जो कहता है कि पृथ्वी कछुए की पीठ और शेषनाग के फन पर टिकी है (रामचरितमानस बालकाण्ड 207)। धर्म के नशे में हमने अपना स्वाभिमान खो दिया है अपने आत्मविश्वास को गिरवी रख दिया है, इंसानियत को भूलकर हम पशुत्व को अपना चुके है, देश, समाज के लिये सामूहिक रूप से इकट्ठा होने के बजाय हम विभिन्न तीर्थ स्थलों, धामों, मज़ारों पर भीड़ रूप में इकट्ठे होते हैं। साम्प्रदायिक दंगे करने वाली और सार्वजनिक चीज़ों को नुकसान पहुँचाने वाली भीड़ ही होती है। जहाँ सामूहिकता होती है वहीं बदलाव होता है, और जहाँ भीड़ होती है वहाँ केवल भेड़चाल होती है, यही वजह है कि आज हमारा देश 116 करोड़ लोगों की भीड़ से भर गया है, इस भीड़ को बनाये रखने में ही कइयों का स्वार्थ सिद्ध होता है। इसलिये समाज को धर्म और जाति के नाम पर भीड़ में बदलने वाले स्वार्थी तत्व समाज को इसी रूप में बनाये रखना चाहते है, क्योंकि भीड़ को ही बेवकूफ बनाया जा सकता है समूह को नहीं। हर साल बाढ़ से हज़ारों गाँव बरबाद होते है, लाखों लोग बेघर होते है सैकड़ों, हज़ारों लोग मारे जाते हैं, प्रभावितों की मदद के लिये राहत पैकजों की घोषणा होती है, सरकारी खज़ाने से अरबों रुपये ग़रीबों की सहायता के नाम पर अफ़सर एवं नेता खा जाते है और ये ग़रीब जैसे के तैसे बने रहते है। हर वर्ष सूखा पड़ता है, भूख से परेशान किसान खुदकुशी कर लेता है और हमारे नेता इनके घरों में जाकर दावतें उड़ाते हैं सहानुभूति के नाम पर अपनी राजनीति चमकाते हैं, किसानों के कर्ज़ माफ़ी का ढोंग करते है, किसान फिर भी आत्महत्या करता है। राज्यों से हर वर्ष भयंकर ग़रीबी और भुखमरी के कारण करोड़ों लोग देश के विभिन्न शहरों में पलायन कर लात-जूते खाते हुए भी किसी तरह अपने परिवार के लिए दो वक़्त की रोटी का जुगाड़ कर रहे हैं, जिसके कारण शहरों की व्यवस्था चरमरा गई है और शहरों की व्यवस्था को ठीक रखने के लिये ही बड़े-बड़े फ्लाईओवर, मेट्रो वगैरह बनाई जा रही हैं, जिन्हें दिखाकर सरकार अपनी पीठ थपथपाती है कि भारत तरक्की कर रहा है महाशक्ति बनने जा रहा है। शहरों में होने वाली ये तरक्की असल में गाँवों की बदहाली की निशानी है। हमारी

सभ्यता को सींचने वाली नदियाँ आज बड़े गन्दे नालों में परिवर्तित हो चुकी हैं जिनकी सफाई के नाम पर हर साल हज़ारों करोड़ रुपये जनता की जेबों से ही निकाले जाते हैं। अदालतों में करोड़ों केस पेण्डिग पड़े हैं कितने बेकसूर जेलों में सड़ रहे है और बड़े-बड़े अपराधी नेता बने घूम रहे हैं। महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों में हर वर्ष बढ़ोत्तरी हो रही है। बलात्कार, अपहरण की घटनायें तो आम-सी हो गई है। कहने को तो देश की इन सभी समस्यायों से निपटने के लिये हमारी सरकार के पास योजनाएँ हैं परन्तु उन योजनाओं में भ्रष्टाचार का दीमक लग चुका है, सरकार की ये यथास्थितिवादी अपाहिज योजनाएँ देश की सभी समस्याओं का हल नहीं निकाल सकती बल्कि समस्याओं को और बढ़ा सकती हैं। इन योजनाओं पर होने वाला खर्च अन्ततः जनता ही चुकाती है और पहले से ही बदहाल भारत की जनता की नियति पर इन सरकारी योजनाओं से कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता। इन विभिन्न योजनाओं पर खर्च हुआ रुपया भ्रष्ट अफसरों और नेताओं की जेबों से होते हुए अन्ततः स्विस बैकों के अन्धेरे तहखानों में समा जाता है।

देश की नियति बदलने के लिये आज आवश्यकता है एक क्रान्ति की जो इस पूरी व्यवस्था को ही उखाड़ फेंके और एक नई व्यवस्था का सृजन करे जहाँ आम आदमी अपनी बुनियादी आवश्यकताओं के लिये सरकारी मदद की भीख माँगने के बजाय स्वावलम्बी बने और तिरस्कारित-अपमानित जीवन जीने के बजाय स्वाभिमान से जिये :

जहाँ कोई भूखा ना सोये
कोई बेघर ना रहे, कोई नंगा ना रहे
पृथ्वी के संसाधनों पर हर मनुष्य का बराबर हक हो
कोई नीचा ना रहे,
कोई ऊँचा ना रहे,
कोई दानी ना रहे,
कोई भिखारी ना रहे,
कोई वैश्या ना रहे,
दहेज के लिये कोई स्त्री जलायी ना जाए
कोई स्त्री, स्त्री होने के कारण सतायी ना जाए,
गर्भ में ही वो गिरायी ना जाए,
जहाँ गोत्र न हो
जाति का बन्धन न हो
धर्म की कोई दीवार ना हो
जहाँ किसी परमेश्वर का सवाल ना हो!
जहाँ ईश्वर के दलाल ना हों
एक ऐसी व्यवस्था..
जिसमें भय, भूख और भ्रष्टाचार ना हो
आतंक, अन्याय और अत्याचार न हो
किसी औरत से बलात्कार ना हो
और जहाँ मानवता बौनी और लाचार ना हो।

शकील 'प्रेम'
संगम विहार नई दिल्ली-62

एक धार्मिक मठ के मठाधीश की गुण्डागर्दी

(गोरखपुर की घटना जो मैंने देखी)

उस समय मैं कक्षा-11 में पढ़ता था। सन् 2005 की बात है। गोरखनाथ के पुल से आगे बढ़ने पर एक पान की दुकान थी ''विकास पान भण्डार''। मैं पान लेने गया हुआ था कि कुछ दूरी पर भीड़ दिखाई दी। क़रीब जाने पर पता चला कि एक व्यक्ति एक बूढ़ी महिला को घसीटते हुए पीट रहा था। और उस वृद्धा का लड़का उसे बचाने के कोशिश में उस व्यक्ति से मार खा रहा था। वह गुण्डे टाइप का व्यक्ति उस बूढ़ी महिला से 'पैसा वसूलने' आया था। कुछ दिन पहले वह और उसका लड़का वहीं छोटी-सी ज़मीन पर एक मेज लगाकर अण्डे बेचा करते थे। आर्थिक स्थिति कुछ अच्छी नहीं थी। आज उन्हें इस तरह मार खाता देख उन पर दया आ रही थी और करता भी क्या? सारे लोग तमाशबीन बने देख रहे थे। वह चिल्ला-चिल्ला कर कह रही थी ''किसी में हिम्मत नहीं है जो इस बाबा के आदमियों के ख़िलाफ़ आवाज उठाये, उससे लड़ाई मोल ले। ये लोग मुझे चैन से जीने-खाने भी नहीं देते।''

उस दिन मैंने मठ में डेरा जमाए उस भेड़िये की हकीकत जानी फिर भी एक भ्रम पाले रहता था कि ऐसा थोड़े ही होता है, सब ऐसे नहीं होते। लेकिन उम्र बढ़ने के साथ व्यावहारिक तौर पर देख रहा हूँ कि ये भेड़िये धार्मिक मठों में बैठकर जनता को गुमराह करने का खेल खेलते हैं और साथ में अपना बाज़ार और मुनाफ़ा भी गर्म रखते हैं। आप लोगों ने मानव सभ्यता के इतिहास की कड़ियों में इनकी भूमिका का ज़िक्र करके मेरे भ्रम को दूर किया।

हाँ ज़रूरत है इन सारे साम्राज्यवादियों को
ऊर्जा और ईंधन की कि मुनाफ़ा पीटें
और हम जनता को कुचले,
उसी के बरक्स हमें ज़रूरत है
भगत सिंह के विचारों के ईंधन की
जिसकी ऊर्जा से हम इनके
साम्राज्य को चूर-चूर कर सकें।
बना सकें ताकि एक समता का
समाज जहाँ कोई भी कुचला न जा सके।

आपका साथी -
रोहित, गोरखपुर।

छात्रों-युवाओं के लिए राहुल फाउण्डेशन की कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

नौजवानों के लिए विशेष

1.	**नौजवानों से दो बातें**	पीटर क्रोपोटकिन	5.00
2.	**क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा**	भगतसिंह	5.00
3.	**मैं नास्तिक क्यों हूँ और 'ड्रीमलैण्ड' की भूमिका**	भगतसिंह	5.00
4.	**बम का दर्शन और अदालत में बयान**	भगतसिंह	5.00
5.	**जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो, सही लड़ाई से नाता जोड़ो**	भगतसिंह	5.00
6.	**भगतसिंह ने कहा...**(चुने हुए उद्धरण)	भगतसिंह	5.00

क्रान्तिकारियों के दस्तावेज़

1.	**भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज़**	स. सत्यम	200.00
2.	**शहीदेआज़म की जेल नोटबुक**	भगतसिंह	65.00
3.	**विचारों की सान पर**	भगतसिंह	25.00

क्रान्तिकारियों के विचारों और जीवन पर

1.	**बहरों को सुनाने के लिए** (भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और कार्यक्रम)	एस. इरफ़ान हबीब	100.00
2.	**क्रान्तिकारी आन्दोलन का वैचारिक विकास**	शिव वर्मा	10.00
3.	**भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और राजनीति**	बिपन चन्द्र	10.00
4.	**अमर शहीद सरदार भगतसिंह**	जितेन्द्रनाथ सान्याल	75.00
5.	**यश की धरोहर**	भगवानदास माहौर, शिव वर्मा, सदाशिवराव मलकापुरकर	30.00
6.	**भगतसिंह और उनके साथी**	अजय घोष, गोपाल ठाकुर	30.00
7.	**संस्मृतियाँ**	शिव वर्मा	50.00
8.	**शहीद सुखदेव : नौघरा से फाँसी तक**	स. डॉ. हरदीप सिंह	20.00

तीन नयी महत्त्वपूर्ण बिगुल पुस्तिकाएँ

1.	**राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन**	अभिनव	15.00
2.	**फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?**	अभिनव	15.00
3.	**नेपाली क्रान्ति : इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार**	आलोक रंजन	50.00

प्राप्त करने के लिए संपर्क करें:
जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ-226020
फ़ोन: 0522-2786782, ईमेल: janchetna@rediffmail.com

अपनी बात

कॉमनवेल्थ में "कॉमन" क्या और "वेल्थ" किसका?

वैसे तो दिल्ली शहर पिछले दस वर्षों से (मेट्रो के निर्माण और प्रचालन के शुरू होने के बाद से) ही एक भारी रूपान्तरण से गुज़र रही है, लेकिन पिछले 2 वर्षों से इस प्रक्रिया ने एक तक़लीफ़देह रूप धारण कर लिया है। दिल्ली 2010 के कॉमनवेल्थ खेलों का मेज़बान शहर है और पिछले कुछ वर्षों से इस खेल को निगाह में रखते हुए दिल्ली में फ्लाईओवर, अण्डरपास, भूमिगत कार पार्किंग, एक्सप्रेस-वे आदि से लेकर आलीशान होटलों और दैत्याकार स्टेडियमों का निर्माण जारी है। दिल्ली शहर के रूपान्तरण के लिए अगर हम पिछले 30 वर्षों के दौरान की सरकारी योजना पर निगाह डालें तो साफ़ हो जाता है कि दिल्ली को रियो डि जेनेरो या शंघाई की तर्ज़ पर विकसित करने की योजना पर काम किया जा रहा है। एक ओर तो दिल्ली में शॉपिंग मॉलों, मल्टीप्लेक्सों, स्पोर्ट्स क्लब और अमीरज़ादों के लिए ऐसी ही बेशुमार सुविधाओं के इंतज़ामात किये जा रहे हैं, तो वहीं दूसरी ओर दिल्ली में कई दशकों से बसे मज़दूरों, वेण्डरों और आम मेहनतकश आबादी को दिल्ली के उन तमाम इलाकों से खदेड़ कर परिधि के क्षेत्रों में विस्थापित किया जा रहा है, जो दिल्ली के उन क्षेत्रों में रहती थी जो अब शहर के बीचों-बीच आ गये हैं। पिछले कुछ वर्षों में ही दिल्ली एक ऐसे शहर में तब्दील हो चुका है जिसके बीचों-बीच के इलाके में देश में भूमण्डलीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद करोड़ों आम मेहनतकशों की बरबादी की कीमत पर खड़े हुए नवधनाढ्य वर्गों और कुलीनों के लिए हर विश्वस्तरीय सुविधा है; लेकिन यह पूरा केन्द्रीय कुलीन क्षेत्र एक विशालकाय परिधि से घिरा हुआ है जिसमें लाखों-लाख मज़दूर आबादी गुलामों जैसी हालत में जी रही है। वह रोज़ साईकिल से या बस से कई किलोमीटर का सफ़र तय करके काम पर जाती है और फिर शाम को अपने आप को निचुड़वाकर वापस आती है। कॉमनवेल्थ खेलों में दुनिया के सामने भारत के पूँजीपति वर्ग की ताक़त और ऐश्वर्य का मुज़ाहिरा करने के इरादे से अब दिल्ली की मुख्यमन्त्री शीला दीक्षित ने इसी भौतिक वर्गीय ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को और मज़बूत किया है।

अभी हाल ही में शीला दीक्षित ने कहा है कि उनकी सरकार दिल्ली के करीब 90 हज़ार ऑटोरिक्शा सड़क से हटाने जा रही है क्योंकि ये ऑटोरिक्शा चालक पर्यटकों और सैलानियों के साथ बदसलूकी करते हैं और उन्हें ठगते हैं। इसके पहले उन्होंने ऐलान किया था कि दिल्ली को उनकी सरकार 60,000 भिखारियों से मुक्त कर देगी क्योंकि ये शहर के चेहरे पर एक बदनुमा दाग़ हैं। कुछ महीनों पहले उन्होंने एक बयान दिया जिसके लिए उन्हें बार-बार और जगह-जगह सफ़ाई देनी पड़ी और उनकी पार्टी कमान ने भी उन्हें हड़काया। किसी सुरूर में वे कह बैठीं कि उत्तर प्रदेश और बिहार अपने ग़रीबों को वापस बुला लें, दिल्ली उनका बोझ वहन नहीं कर सकती। अब यह दीगर बात है कि अगर उत्तर प्रदेश और बिहार के लिए यह करना सम्भव होता और वे वाक़ई ऐसा कर देते तो दिल्ली के 90 प्रतिशत वाहन चालक, घरेलू नौकर, रसोइये, रिक्शेवाले, ठेलेवाले, सब्ज़ीवाले, इलेक्ट्रीशियन, कारखाना-मज़दूर, प्लम्बर, सफ़ाईकर्मी, होटल व रेस्तराँ में काम करने वाले अकुशल मज़दूर, कूरियर सेवा वाले लड़के व तमाम निम्न सेवा प्रदाता अचानक ग़ायब हो जाते। दिल्ली के धनपशु जहाँ पड़े थे, वहीं पड़े रह जाते। न कोई उन्हें खाना देने वाला होता, न कपड़ा साफ़ करने वाला, न उन्हें एक जगह से दूसरी जगह ले जाने वाला; न ही दिल्ली के कारखानों में मज़दूर होते और न ही कोई

उत्पादन होता, सेवा क्षेत्र की सारी कम्पनियाँ ठप्प पड़ जातीं, डीटीसी बसों में सफ़र करने वाले यात्रियों की संख्या इतनी कम हो जाती कि डीटीसी भयंकर घाटे में चली जाती; नेताओं, मन्त्रियों और नौकरशाहों की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए कोई नहीं बचता। लेकिन सरकार का इरादा इस आम मेहनतकश ग़रीब आबादी को वापस बिहार या उत्तर प्रदेश भेजने का कतई नहीं है। जो काम सन 2000 से चल रहा है, वह हर योजना में और तेज़ गति से चलाया जाता है। यह काम है ग़रीब मेहनतकश आबादी को दिल्ली के अमीरज़ादों के इलाकों से खदेड़कर परिधि के क्षेत्रों में बसाना। यही काम कॉमनवेल्थ खेलों के दौरान भी चल रहा है। इसका मक़सद है ग़रीबी को छिपाना। विदेशी पर्यटकों और सैलानियों को भारत के ग़रीब नहीं दिखने चाहिए। पूँजीवादी विश्व में भारत का रुतबा तभी तो बनेगा! विदेशी कम्पनियाँ एक *वाइब्रेंट कंज्यूमर क्लास* देखेंगी तभी तो निवेश करेंगी! शहर में झुग्गियाँ और भिखारी दिखेंगे तो कौन निवेश करेगा? लेकिन यह वैसा ही जैसे कि कोई बदसूरत औरत पार्टियों में घूमने के लिए अपनी कॉस्मेटिक सर्जरी करा ले। वह कुछ भी करा ले यह बात तुरन्त ही फैल जाएगी कि उसने अपने चेहरे के साथ कुछ किया है।

साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि इस कॉस्मेटिक खूबसूरती को बनाने की प्रक्रिया में लाभप्राप्तकर्ता कौन है और पीड़ित कौन।

पूरी दिल्ली में जगह-जगह सड़कें खोदी जा चुकी हैं; कहीं उन्हें चौड़ा किया जा रहा है तो कहीं अण्डरपास या अण्डरग्राउण्ड पार्किंग बन रही है। जवाहरलाल नेहरू स्टेडियम नामक एक दैत्याकार स्टेडियम लगभग बन चुका है और तालकटोरा गार्डन में इनडोर स्टेडियम व शूटिंग रेंज तैयार हो चुकी हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय के कॉलेजों के खेल मैदानों को भी कॉमनवेल्थ खेलों के लिए हथियाया जा चुका है और यहाँ तक कि छात्रावासों में नये सत्र में दाखिले तक नहीं दिये जाएँगे क्योंकि इन छात्रावासों में कॉमनवेल्थ खेलों में आने वाले अतिथियों को ठहराया जाएगा। यानी कि ग़रीब छात्रों को छात्रावास की सुविधा से जो थोड़ी-बहुत राहत मिल पाती थी, उसे भी अब छीन लिया जाएगा। भारी पैमाने पर चल रहे निर्माण कार्यों के कारण दिल्ली इस समय महाद्वीप का सबसे प्रदूषित और धूल भरा शहर बन चुका है। सैंकड़ों ठेकेदार और ठेका कम्पनियाँ लाखों मज़दूरों से काम करवा रही हैं। दिल्ली भर में बड़ी-बड़ी निर्माण मशीनें, अर्थमूवर, क्रेनों और बुलडोज़रों को काम पर लगे देखा जा सकता है; साथ ही उन हज़ारों कुपोषित मज़दूरों को दिनों-रात कार्यस्थलों पर खटते देखा जा सकता है जिनके बच्चे वहीं कहीं धूल में सो रहे होते हैं और जिनकी पसलियों को आसानी से गिना जा सकता है। ये मज़दूर आस-पास बने अस्थायी झुग्गियों में रहते हैं और 14 से 16 घण्टे तक काम करते हैं। इनके लिए श्रम क़ानूनों, न्यूनतम मज़दूरी आदि का कोई मतलब नहीं है। दिल्ली सरकार ने समय पर कॉमनवेल्थ खेलों के लिए निर्माण कार्य को पूरा करवाने के लिए लगभग घोषित तरीके से ठेकेदारों को सभी क़ानूनों की धज्जियाँ उड़ाने की खुली छूट दे दी है। हाल ही में एक स्वयंसेवी संगठन ने दिल्ली हाईकोर्ट में एक जनहित याचिका दायर करते हुए कॉमनवेल्थ खेलों के निर्माण कार्य में लगे मज़दूरों की जीवन और कार्य स्थितियों की जाँच-पड़ताल की माँग की। इस पर अदालत ने एक समिति का गठन किया और उसे इस जाँच का ज़िम्मा सौंपा। इस समिति ने सभी कार्यस्थलों का दौरा किया और अपनी रिपोर्ट अदालत को सौंपी। इस रिपोर्ट में साफ़ कहा गया है कि मज़दूरों को अमानवीय स्थितियों में रखा गया है। जिन जगहों पर वे रहते हैं वे ईंटों से घेरी गयी और लोहे की चादर से ढंकी गयी छोटी-छोटी जगहें हैं जिनमें कोई खिड़की नहीं है। शौचालय की सुविधा इन मज़दूरों को नहीं दी गयी है। इन झुग्गी के छोटे-छोटे कमरों में कई बार आठ-आठ मज़दूर रहते हैं। मज़दूर सुबह आठ बजे काम पर आ जाते हैं और कई बार रात ग्यारह बजे तक काम करते रहते हैं। ठेका कम्पनियाँ और टुटपुँजिया ठेकेदार किसी श्रम क़ानून का कोई पालन नहीं करते हैं और सरकार की तरफ से उन्हें पूरी छूट मिली हुई है। इन मज़दूरों ने जब-जब प्रतिरोध का कोई भी प्रयास किया है उन्हें या तो काम से निकाल दिया गया है या उन्हें अन्य प्रकार से परेशान किया गया है। कुल मिलाकर, इन मज़दूरों को वास्तव में गुलामों की स्थितियों में रखा गया है, आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता के उजरती गुलाम; जिनका काम है समाज के 10 प्रतिशत खाए-अघाए परजीवी शासकों के लिए दुनिया का हर ऐशो-आराम पैदा करना।

और दूसरी तरफ़ ऐसे लोग भी मौजूद हैं जो कॉमनवेल्थ खेल के लिए हो रहे निर्माणों के इस गोरखधन्धे से अरबों-अरब रुपये पीट रहे हैं। कॉमनवेल्थ खेलों के लिए जो हज़ारों करोड़ रुपये की राशि आबण्टित है वह बड़ी-बड़ी ठेका कम्पनियों और ठेकेदारों की जेब में जा रही है। ठेकों के लिए दिल्ली सरकार के अफ़सरों-नौकरशाहों से लेकर मन्त्रियों और सचिवों तक को मोटी-मोटी रिश्वतें दी जा रही हैं। इन रिश्वतों के बदले बिककर नेताओं-नौकरशाहों का यह पूरा वर्ग काले धन की ज़बर्दस्त कमाई कर रहा है। इन निर्माण कार्यों के लिए आबण्टित फण्डों से ठेका कम्पनियाँ और ठेकेदार, निर्माण सामग्री बनाने वाली कम्पनियाँ, एकाउंटेंसी फर्में, और उनसे जुड़ी कम्पनियों के एक विशाल दायरे को अतिलाभ मिल रहा है। और ग़ौर करने की बात यह है कि यह हज़ारों करोड़ रुपये आम जनता की जेब से वसूले गये हैं। पूँजीपतियों को

लाभ पहुँचाने के लिए कुछ ऐसी संरचनाओं का निर्माण किया जा रहा है जिनका कोई उपयोग नहीं होने वाला और इनके निर्माण पर हज़ारों करोड़ रुपये ख़र्च किये जा रहे हैं। मिसाल के तौर पर, कॉमनवेल्थ खेलों के उद्घाटन समारोह के लिए एक स्तम्भ का निर्माण किया जा रहा है जिसे उद्घाटन समारोह के निर्माण के बाद 24 घण्टों के भीतर तोड़कर साफ़ कर दिया जाएगा! इसके बाद भी कम्पनियों का मुनाफ़ा और अधिक बढ़े इसके लिए मज़दूरों को सारे नियम-कायदे-क़ानूनों को ताक़ पर रखकर निचोड़ने की आज़ादी भी पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी के तौर पर काम करने वाली सरकार ने इन कम्पनियों को दे दी है। साफ़ है कि इन खेलों से इस देश की आम जनता को मिलने वाला तो कुछ भी नहीं है, हाँ, महँगाई की मार से बची उसकी अठन्नी में से चवन्नी और निकल जाएगी! ऊपर से पूरे शहर को प्रदूषण से भरकर नर्क बना दिया गया है। ज़ाहिर है, कार के शीशों के भीतर सफ़र करने वाले धन्नासेठों को धूल-धुँए से अधिक दिक्कत नहीं होने वाली है। इस नर्क में सड़ेगा आम ग़रीब आदमी जो बसों में सफ़र करता है, फुटपाथों पर पैदल चलता है। दूसरी तरफ़ पूँजीपतियों, ठेकेदारों और कारपोरेट घरानों को मालामाल करने के लिए सरकार ने कॉमनवेल्थ खेलों का ज़बर्दस्त इस्तेमाल किया है। हर तरह से इनकी जेबें नोटों से ठूँस दी गई हैं। बदले में नेताओं-नौकरशाहों ने भी मोटी फीस वसूली है। और इस सारे प्रपंच को शासक वर्ग जनता की छाती पर बैठकर रच रहा है।

वैसे तो यह अपने आप में एक स्वतन्त्र सम्प्रभु राष्ट्र के लिए शर्म की बात है कि वह उस कॉमनवेल्थ का अंग बना रहे जिसकी प्रमुख उस भूतपूर्व औपनिवेशिक सत्ता की महारानी है, जिसने उसे 250 वर्षों तक लूटा है। लेकिन राष्ट्रवाद की पिपरही बजाने वाली भाजपा से कांग्रेस तक कभी इस पर प्रश्न नहीं उठाते। इसकी बात छोड़ भी दी जाय तो यह समझना काफ़ी मुश्किल है कि इस कॉमनवेल्थ में *कॉमन* क्या है और *वेल्थ* किसका है! साफ़ तौर पर *वेल्थ* किसी भी रूप में *कॉमन* नहीं दिख रहा है। जो *कॉमन* दिखता है वह वाकई काफ़ी *कॉमन* है एक बार फिर समाज का परजीवी पूँजीपति वर्ग और उसके लग्गू-भग्गू एक विशालकाय खेल आयोजन के परदे के पीछे आम मेहनतकश जनता को नोच खाने और निचोड़ डालने में लगे हुए हैं।

●

श्रद्धांजलि

प्रो. दलीप एस. स्वामी : एक जनपक्षधर अर्थशास्त्री

प्रख्यात अर्थशास्त्री और राजनीतिक, सामाजिक कार्यकर्ता प्रो. दलीप एस स्वामी का पिछले 6-7 अप्रैल की रात को निधन हो गया। करीब 75 वर्षीय प्रो. स्वामी काफ़ी समय से अस्वस्थ थे और कुछ समय पहले पक्षाघात होने के बाद से लगभग बिस्तर पर ही थे।

प्रो. स्वामी भारत के उन चन्द एक वरिष्ठ अर्थशास्त्रियों में से थे जिन्होंने 1947 के बाद अपनाये गये विकास के पूँजीवादी रास्ते की मुखर आलोचना की और कलम तथा कर्म से जनता के पक्ष में सक्रिय रहे।

दिल्ली देहात के एक गाँव में जन्मे प्रो. स्वामी ने कड़ी मेहनत से उच्च शिक्षा पायी। अमेरिका की पेन्सिलवेनिया यूनिवर्सिटी से नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री लॉरेंस क्लाइन के निर्देशन में पीएच.डी. करने के बाद उन्हें अमेरिका के एक बड़े संस्थान में नौकरी मिल गयी। उनके सामने भी विश्व बैंक और आईएमएफ जैसी अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं में जाकर डॉलर कमाने और विश्व पूँजी की सेवा करने का रास्ता खुला था मगर उन्होंने इस्तीफ़ा देकर देश वापस लौटने का रास्ता चुना। कुछ समय तक आईआईएम, अहमदाबाद में पढ़ाने के बाद वे दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापन करने लगे। इस दौरान मुद्रा अर्थव्यवस्था और कृषि पर अनेक महत्वपूर्ण शोध कार्य करने के साथ-साथ वे राजनीतिक-सामाजिक आन्दोलनों में भी सक्रिय हुए। वे एक प्रतिबद्ध और जुझारू एक्टिविस्ट थे और ग़रीबों पर अत्याचार तथा नागरिक अधिकारों के हनन के बहुत-से मसलों पर उन्होंने सड़क पर उतरने में भी हिचक नहीं दिखायी।

श्री दलीप स्वामी एक मार्क्सवादी थे और आजीवन अपने विचारों पर उनका विश्वास बना रहा। उनका दृढ़ विश्वास था कि इस लुटेरी व्यवस्था का एकमात्र विकल्प समाजवाद ही है। वे कहते थे कि अर्थशास्त्र का पठन-पाठन उनके लिए महज़ जीवनवृत्ति का माध्यम नहीं बल्कि समाजवाद को समझने और उसकी समझदारी को विकसित करने का वैचारिक औज़ार है। (इस विषय में आह्वान, 1-30 सितम्बर 1996 में उनका लम्बा साक्षात्कार भी प्रकाशित हुआ था।)

आह्वान के सम्पादक मण्डल और पाठक समुदाय की ओर से हम उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि देते हैं।

प्रणब मुखर्जी का बजट 2010-2011

''सक्षमकारी राज्य'' का फण्डा यानी धनपतियों की चाँदी और जनता की बरबादी

• अभिनव

इस बार के आर्थिक सर्वेक्षण में सरकार ने पहली बार एक ऐसा हिस्सा रखा था जो मौजूदा सरकार के आर्थिक दर्शन को खोलकर रख देता है। पहले के आर्थिक सर्वेक्षण अधिकांशतः आय-व्यय की गणनाओं और लाभ-घाटे के आकलन में ही ख़त्म हो जाया करते हैं। प्रणब मुखर्जी मौजूदा संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार के सबसे अनुभवी राजनीतिज्ञों में से एक हैं, बल्कि शायद सबसे अनुभवी राजनीतिज्ञ हैं। अपने लम्बे राजनीतिक जीवन और पूँजीवादी अर्थनियोजन की गहरी समझदारी के आधार पर अपनी टीम के साथ मिलकर उन्होंने आर्थिक सर्वेक्षण में कहा है कि सरकार का काम जनता की ज़रूरतों को पूरा करना नहीं होना चाहिए। इसकी उन्होंने काफ़ी आलोचना की है और कहा है कि ऐसी सरकार उद्यमिता और कर्मठता की राह में बाधा होती है। वास्तव में तो सरकार को एक "सक्षमकारी" भूमिका में होना चाहिए। उसका काम यह सुनिश्चित करना होना चाहिए कि लोग बाज़ार के खुले स्पेस में एक-दूसरे की ज़रूरतों को पूरा करें, एक-दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करें और बाज़ार की प्रणाली में हस्तक्षेप किये बगैर उसे सामाजिक-आर्थिक समतुलन करने दें! वित्त मन्त्री महोदय आगे फरमाते हैं कि जो राज्य जनता की आवश्यकताओं जैसे शिक्षा, चिकित्सा, रोज़गार, आवास, भोजन आपूर्ति आदि को पूरा करने का काम अपने हाथ में ले लेता है वह लोगों को "सक्षम" नहीं बनाता; प्रणब मुखर्जी की राय में ऐसी सरकार एक "सक्षमकारी" सरकार नहीं होती बल्कि "हस्तक्षेपकारी" सरकार होती है! हमें ऐसी सरकार से बचना चाहिए! वाह! क्या क्रान्तिकारी आर्थिक दर्शन पेश किया है वित्तमन्त्री महोदय ने! लेकिन अगर आप पिछले कुछ दशकों की विश्व बैंक व अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की आर्थिक रपटों का अध्ययन करें, तो आपको इस आर्थिक दर्शन की मौलिकता पर शक़ होने लगेगा। जिस शब्दावली और लच्छेदार भाषा में प्रणब मुखर्जी ने विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा अनुशंसित नवउदारवादी नीतियों को लागू करने के इरादे को जताया है, वह कई लोगों को सतही तौर पर काफ़ी क्रान्तिकारी नज़र आ सकता है। लेकिन वास्तविकता क्या है, यह बजट 2010-2011 के विश्लेषण पर साफ़ ज़ाहिर हो जाता है।

बजट 2010-2011 के पेश होने के कुछ पहले से ही कारपोरेट घरानों की जेब में बैठे समाचार चैनलों ने बड़े-बड़े फ्लैश होते शीर्षकों में वित्त मन्त्री प्रणब मुखर्जी से सवाल पूछने शुरू कर दिये थे। मसलन, "क्या प्रणब मुखर्जी इंडिया इंक. के सीईओ की तरह बर्ताव करेंगे, या एक राजनीतिज्ञ की तरह?"; या, "वित्त मन्त्री बाज़ार समृद्धि को पैदा करेंगे या नष्ट?" समाचार चैनलों के इस सवाल से ही कारपोरेट जगत की उम्मीदें स्पष्ट थीं। इजारेदार पूँजीपति वर्ग, बैंकर, निर्माण क्षेत्र के विशाल पूँजीपति, खनन-उत्खनन में लगीं दैत्याकार कम्पनियाँ, शेयर मार्केट के बूते समृद्धि का बुलबुला फुलाने वाली तमाम कम्पनियाँ वित्त मन्त्री से अरबों रुपयों की छूट और तोहफ़ों का इन्तज़ार कर रही थीं। आख़िर इन्हीं की समृद्धि से तो बूँद-बूँद रिसकर (ट्रिकल डाउन) जनता तक पहुँचनी थी! सो, ज़ाहिरा तौर पर, इनकी सेवा करना और इनकी सेवा में बिछ जाना ही वित्त मन्त्री का कर्तव्य था। वित्त मन्त्री ने कारपोरेट जगत और उसके प्रचारक, भोंपू और दलाल की भूमिका निभाने वाले मीडिया की उम्मीदों पर खरा उतरते हुए एक ऐसा बजट पेश किया जो करोड़ों ग़रीबों की जेब से आख़िरी चवन्नी तक निचोड़कर इजारेदार पूँजीपति वर्ग, नेताओं-नौकरशाहों, उच्च मध्यवर्ग और धनी किसानों की तिजोरी में डाल दे। सरकार के जनता के प्रति उत्तरदायित्व को "सक्षमकारी" सरकार बनने के नाम पर और कम कर दिया गया है। लेकिन पूँजीपति वर्ग के लिए सरकार की भूमिका सक्षमकारी की नहीं बल्कि आपूर्तिकर्ता की है। हालाँकि सरकार आर्थिक सर्वेक्षण में कहती है कि सरकार केवल उसके लिए आपूर्तिकर्ता का काम करती है जो अपनी ज़रूरतें स्वयं पूरी करने में अक्षम है। बजट की निगाह में इस देश के 90 करोड़ लोग इतने पैसे वाले और धनी लोग हैं जिन्हें सिर्फ़ एक सक्षमकारी सरकार की आवश्यकता है और इस देश के मुश्किल से 12 करोड़ पूँजीपति, उच्च मध्यवर्गीय परजीवी, वाणिज्यिक वर्ग, धनी किसान वर्ग और शेयर बाज़ार के दलाल ऐसे अक्षम, निरीह, निर्दोष, पिछड़े और आर्थिक रूप से कमज़ोर लोग हैं जिन्हें सरकार की ज़रूरत एक आपूर्तिकर्ता के रूप में है। इसीलिए तो सरकार ने इन्हें सबकुछ दिया है। कुल मिलाकर इस बजट में इन्हें 500,000 करोड़ रुपये का तोहफ़ा दिया गया है! जबकि जनता की जेब से करीब इतना ही वसूल लिया गया है। बजट

पर एक क़रीबी निगाह ही इस बात को साफ़ कर देती है कि यह सरकार किन वर्गों के लिए काम कर रही है।

सबसे पहले एक निगाह बजट के कुछ मुख्य बिन्दुओं पर। सरकार ने पेट्रोल और डीज़ल की कीमतों मे बढ़ोत्तरी कर दी है। इसका कारण बजट घाटे को पूरा करना बताया गया है। न सिर्फ़ पेट्रोलियम उत्पादों पर लगे उत्पादन शुल्क में बढ़ोत्तरी कर दी गयी है, बल्कि सभी अप्रत्यक्ष करों में बढ़ोत्तरी कर दी गयी है। कृषि के लिए मौजूदा ऋण राशि को रु. 3,25,000 करोड़ से बढ़ाकर रु 3,75,000 करोड़ कर दिया गया है। दालों और अनाज के परिवहन से उत्पादन शुल्क हटा दिया गया है। लेकिन कोई यह न समझे कि इससे दालों और अनाजों की कीमत में कोई कमी आने वाली है। इससे सिर्फ़ धनी किसानों के मुनाफ़े का मार्जिन बढ़ेगा। पहले भी उत्पादन की अधिक लागत या उत्पादन में कमी अनाज और दालों की बढ़ती कीमतों का कारण नहीं था। अनाजों और दालों की बढ़ती कीमतों का कारण था जमाखोरी, वायदा व्यापार, सट्टेबाज़ी और खाद्यान्नों के बाज़ार का सरकार द्वारा अविनियमन (डीरेग्यूलेशन)। वास्तव में, सरकार के पास 52 लाख टन का वह बफर स्टॉक मौजूद था जो कीमतों को बढ़ने से रोकने के लिए ज़रूरी था। 2009-2010 में फूड कार्पोरेशन ऑफ़ इण्डिया ने 54 लाख टन की रिकॉर्ड प्राप्ति की थी। इसके बावजूद अनाज की कीमतों के आसमान छूने की वजह ही जमाखोरी और वायदा व्यापार था। खाद्यान्न के बाज़ार में बड़ी-बड़ी कम्पनियों के उतरने और सट्टेबाज़ी और वायदा व्यापार की शुरुआत के साथ ही अनाज की कीमतें बढ़ने लगीं थीं। बजट में एक अन्य ध्यान देने योग्य बात थी सार्वजनिक क्षेत्रों से विनिवेश करके रु. 40,000 करोड़ जुटाने की सरकार की योजना। जाहिर है, कि जनता की मेहनत-पसीने की कमाई पर खड़े सार्वजनिक उद्यमों को एक-एक करके मिट्टी के मोल पूँजीपतियों को बेचकर यह पैसा जुटाया जाएगा। इसके अतिरिक्त खाद्य वस्तुओं और उर्वरकों पर से सब्सिडी हटाने का ऐलान किया गया है। जाहिर है, इससे खाने-पीने की वस्तुओं की कीमतें और अधिक बढ़ेंगी। पेट्रोलियम उत्पादों के अतिरिक्त एक अन्य बुनियादी माल कोयले की कीमत भी बढ़ा दी गयी है जिसका प्रभाव मुद्रास्फीति को बढ़ाने में योगदान करेगा। फार्मरों और धनी किसानों को उपहार देते हुए सरकार ने "हरित क्रान्ति" को देश के पूर्वी क्षेत्र, यानी, उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल में विस्तारित करने के लिए रु. 400 करोड़ की राशि आवण्टित की है। पंजाब और हरियाणा में "हरित क्रान्ति" ने धनी किसानों, फार्मरों और कुलकों के एक वर्ग को पैदा किया, पाला-पोसा और पूँजीवाद के एक मज़बूत सामाजिक अवलम्ब के तौर पर विकसित किया। जाहिर है कि पूर्वी भारत में भी कुलकों और फार्मरों के वर्ग के आधुनिकीकरण और वित्त-पोषण के ज़रिये एक ऐसा ही वर्ग पैदा करने की योजना है। इससे इस क्षेत्र के आम ग़रीब किसानों और खेतिहर मज़दूरों को कुछ भी हासिल नहीं होने वाला। उल्टे, ग़रीब किसानों की भारी जमात अपनी जगह-जमीन खोकर सर्वहारा वर्ग की कतार में शामिल होती जाएगी।

कारपोरेट जगत को भारी छूटें दी गयी हैं। निगम कर पर से सरचार्ज 10 प्रतिशत से घटाकर 7.5 प्रतिशत कर दिया गया है। कर्ज़ों और करों से मुक्ति के रूप में कारपोरेट जगत को रु. 500,000 करोड़ का तोहफ़ा दिया गया है। अवसंरचना निर्माण के लिए जो भारी राशि आवण्टित की गयी है, उसे भी कारपोरेट घरानों को दिये गये पैसों के रूप में ही जोड़ा जाना चाहिए क्योंकि इस राशि से उसी अवसंरचना का निर्माण होना है जिसका फ़ायदा इन इजारेदार पूँजीवादी निगमों को मिलेगा।

अब आइये अलग-अलग देखें कि शासक वर्गों के समुच्चय को इस बजट ने क्या दिया है?

धनी किसानों, फार्मरों, कुलकों, एग्रो कम्पनियों के लिए :

• बड़े निजी भण्डारण गृहों का निर्माण किया जाएगा। कहने की ज़रूरत नहीं है कि बड़े पैमाने पर भण्डारण सुविधाओं का उपयोग धनी किसान, एग्रो-बिज़नेस कम्पनियाँ और फार्मर करते हैं। इससे आम ग़रीब और यहाँ तक कि मँझोले किसानों को भी कोई लाभ नहीं मिलने वाला है।

• ऋण के लिए उपलब्ध राशि को रु. 3,25,000 करोड़ से बढ़ाकर रु. 3,75,000 करोड़ कर दिया गया है। पिछले वर्ष अधिकांश ऋण राशि जिस आकार के ऋणों में ख़र्च हुई वह था 10 से 15 करोड़ रुपये के ऋण। अब यह सहज ही समझा जा सकता है कि इस आकार का ऋण या तो बेहद बड़े फार्मर ले सकते हैं या फिर एग्रो-बिज़नेस कम्पनियाँ। इसलिए जाहिर है कि ऋण राशि में बढ़ोत्तरी का लाभ ग़रीब या मँझोले किसानों को नहीं मिलने वाला है।

• रेफ्रिजरेशन, परिवहन, आदि जैसी सुविधाओं को सस्ता किया गया है। इसका लाभ भी धनी किसानों को ही मिलने वाला है। भण्डारण सुविधाओं और परिवहन सुविधाओं का उपयोग यही वर्ग करता है। ग़रीब किसान भण्डारण योग्य उत्पादन नहीं करते और आम तौर पर क़रीब की मण्डी में ही किसी बिचौलिये के जरिये या फिर स्वयं उसका विपणन करते हैं।

• ग्रामीण क्षेत्रों में निजी बैंकों को अपनी शाखाएँ खोलने की इजाज़त दे दी गयी है। स्पष्ट रूप से निजी बैंक ग़रीब किसानों के उत्थान के लिए क्रेडिट देने में नहीं बल्कि अपने मुनाफ़े में दिलचस्पी रखेंगे। यह मुनाफ़ा उन्हें बड़े पैमाने की और बाज़ार के लिए होने वाली खेती में ही मिलेगा। कहने की ज़रूरत नहीं है कि यहाँ भी लाभप्राप्तकर्ता धनी किसानों का ही वर्ग होगा।

• कृषि अवसंरचना का विकास आम जनता के पैसों से किया जाएगा। लेकिन इसके अन्तर्गत जिन चीज़ों का निर्माण होने वाला है उसमें बिरले ही कोई ऐसी चीज़ होगी जिसका

उपयोग ग़रीब किसान करते हों। इसका फ़ायदा मँझोले किसानों तक तो पहुँच सकता है लेकिन ग़रीब किसानों को इससे कोई लाभ नहीं होने वाला।

• खाद्य वस्तुओं पर सब्सिडी घटाने के पीछे सरकार का तर्क है कि अगर खाने-पीने की वस्तुओं के दाम बढ़ते हैं तो इससे किसानों को फ़ायदा होगा। लेकिन किस किसान को फ़ायदा होगा? सिर्फ़ 10 से 15 प्रतिशत किसानों को। सरकार के ही आँकड़े बताते हैं कि 70 प्रतिशत किसान मुख्य रूप से खाद्यान्न के ख़रीदार हैं न कि उत्पादक। दो तिहाई से भी अधिक किसानों की कुल आय का लगभग 60 फीसदी हिस्सा खाना खरीदने में ख़र्च हो जाता है। इसका कारण यह है कि अनाजों का फार्म गेट मूल्य (जिस दर पर कम्पनियाँ, एफसीआई या कोई टुटपुँजिया व्यापारी किसानों से अनाज खरीदता है) खाद्यान्न के थोक मूल्य से बेहद कम है और खुदरा मूल्य से तो वह बेहद कम है। सारा लाभ एग्रो-बिज़नेस कम्पनियाँ या खाद्यान्न के व्यापार में घुसी कम्पनियाँ खा जाती हैं। बड़े किसानों से फूड कारपोरेशन ऑफ इण्डिया सम्मानजनक दर पर खरीदारी कर लेता है, इसलिए धनी किसानों को कुल मिलाकर लाभ ही होता है। लाभकारी मूल्य बढ़ाकर वे इसे और बढ़ाने के लिए सरकार पर दबाव बनाते रहते हैं।

इजारेदार पूँजीपति वर्ग, व्यापारी वर्ग, उच्च मध्यवर्ग, नेताओं और नौकरशाहों के लिए:

• निगम करदाताओं (यानी, बड़े-बड़े कारपोरेट घरानों और कम्पनियों) को करों से छूट के रूप में रु. 80,000 करोड़ की छूट।

• कारपोरेट जगत को उत्पादन शुल्क से छूट के रूप में रु 1,70,765 करोड़ की छूट।

• कारपोरेट जगत को कस्टम ड्यूटी से छूट के रूप में रु. 2,49,021 करोड़ की छूट।

• सार्वजनिक उद्यमों को कारपोरेट जगत के हाथों बेचकर रु. 40,000 करोड़ की आमदनी करने की योजना।

• कुल मिलाकर कारपोरेट जगत को रु. 500,000 करोड़ की छूट।

• ग्रामीण विकास के नाम पर रु. 3936 करोड़ आवण्टित जो नेताओं-नौकरशाहों और ठेकेदारों की जेब में जाने वाले हैं।

• कारपोरेट जगत के मुनाफ़े की मशीनरी को और सुचारू रूप से चलाने के लिए अवसंरचना निर्माण के लिए भारी राशि आवण्टित। रु. 19,894 करोड़ सड़कों के लिए; रु. 16,752 करोड़ रेलमार्ग निर्माण के लिए।

• प्रधानमन्त्री और गाँधी परिवार की सुरक्षा के लिए आवण्टित राशि रु. 212 करोड़ से बढ़ाकर रु. 252 करोड़ कर दी गई।

• मात्र 4 करोड़ प्रत्यक्ष करदाताओं के लिए प्रत्यक्ष करों में भारी छूट, जबकि अप्रत्यक्ष करों में परिवर्तन से प्रभावित होने वाले करीब 98 करोड़ लोगों के लिए सभी अप्रत्यक्ष करों में भारी बढ़ोत्तरी।

•

साफ़ है कि सरकार पूँजीपतियों को हर प्रकार की छूट और रियायत दे रही है और उस छूट और रियायत से होने वाले घाटे की भरपाई महँगाई और ग़रीबी से पहले से ही त्रस्त आम जनता को और अधिक निचोड़कर कर रही है। यही है सरकार का "सक्षमकारी" चरित्र। शब्दों की इस लफ्फाज़ी का लक्ष्य महज़ यह है कि आम जनता को गुमराह किया जा सके और सरकार अपने असली चरित्र को ढाँप सके और यह असली चरित्र है पूँजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी का चरित्र।

जनता के लिए? -- ढेर सारे लॉलीपॉप!

जनता को बेवकूफ बनाने के लिए कुछ लॉलीपॉप थमा दिये गये हैं। जैसे कि स्कूल शिक्षा के लिए रु 31,036 करोड़ की राशि आवण्टित की गयी है। लेकिन यह एक बहुत बड़ा और भद्दा मज़ाक है। कारण यह कि सबके लिए निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा की बात करने वाले शिक्षा के अधिकार क़ानून को वाकई लागू करने के लिए इससे कई गुना अधिक फण्ड की आवश्यकता होगी। स्वास्थ्य और परिवार कल्याण के लिए मात्र रु. 22,300 करोड़ का प्रावधान किया गया है। जब देश के 50 प्रतिशत बच्चे कुपोषण और भुखमरी का शिकार हों, जब देश की आधी से अधिक महिलाएँ अरक्तता का शिकार हों और जब देश के कई हिस्सों में नवजात शिशु मृत्यु दर अफ्रीका के भी कई देशों से ज़्यादा हो तो स्वास्थ्य और परिवार कल्याण के लिए यह रकम आवण्टित करना मज़ाकिया ही माना जाएगा। महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी योजना के तहत आवण्टित फण्ड में मामूली बढ़ोत्तरी कर उसे रु. 40,000 करोड़ कर दिया गया है। इस बढ़ोत्तरी से कोई विशेष लाभ नहीं होने वाला है। और वैसे भी पहले जितनी राशि आवण्टित थी उसका बहुलांश ग्रामीण नौकरशाह पूँजीपति वर्ग, ठेकेदारों और दलालों की जेब में जा रहा था। अभी भी, वैसा ही होने जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र के हालिया आँकड़े बताते हैं कि मनरेगा लागू होने के बाद 2008-2009 में करीब 3.4 करोड़ लोग भारत में ग़रीबी रेखा के नीचे धकेल दिये गये। हालाँकि सरकारी ग़रीबी रेखा अपने आप में एक चुटकुला है, लेकिन अगर उसे भी गम्भीर माना जाय तो 3.4 करोड़ लोग कुछ मायने रखते हैं। नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद से 2001 तक करीब 1 करोड़ किसान सर्वहाराकृत होकर खेतिहर और औद्योगिक मज़दूरों की जमात में शामिल हो चुके थे। 1997 से 2009 के बीच 2 लाख किसान आत्महत्या कर चुके थे। इन नवउदारवादी आर्थिक नीतियों ने अतीत में जनता को यही नायाब तोहफ़े दिये हैं। इस बजट में सरकार का जो "सक्षमकारी" चेहरा प्रणब मुखर्जी ने पेश किया है, वह भी कुछ अलग नहीं करने जा रहा है। बल्कि, यही काम वह और तेज़ी से करेगा। कुल मिलाकर, यह पूँजीपतियों का, पूँजीपतियों द्वारा और पूँजीपतियों के लिए बनाया गया बजट है।

समाज

साम्प्रदायिक दंगों का निर्माण

• शिशिर

मार्च महीना बरेली शहर के लिए बुरा गुज़रा। बारावफात के जुलूस के रास्ते को लेकर हुए विवाद और तनाव के नतीजे के तौर पर शहर में साम्प्रदायिक दंगे हुए और फिर कुछ दिनों तक शहर के कई इलाकों में कर्फ्यू भी लगाया गया। लेकिन बरेली के लिए यह घटना सामान्य नहीं थी, जिस प्रकार उत्तर प्रदेश के और कई शहरों के लिए सामान्य हो सकती है। कारण यह है कि बरेली में साम्प्रदायिक दंगों का कोई इतिहास नहीं रहा है। लेकिन मार्च 2010 बरेली के इतिहास में एक मील का पत्थर बन गया। एक बेहद मामूली से विवाद से पूरा शहर हिन्दू-मुसलमान दंगों की चपेट में आ गया। जान-माल का काफ़ी नुकसान हुआ और आने वाले लम्बे समय तक के लिए यह दंगा दोनों समुदायों के लोगों के दिमाग़ में एक कड़वाहट छोड़ गया।

लेकिन अगर हम इस दंगे के पहले और उसके दौरान हुए घटनाक्रम पर एक क़रीबी निगाह डालें और सरकार और गैर-सरकारी स्रोतों के आधार पर विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि यह दंगा कोई स्वतःस्फूर्त रूप से शुरू हुआ दंगा नहीं था। कहीं पर भी हिन्दू और मुसलमान समुदाय के बीच स्वयं कोई मारपीट, पथराव या झगड़ा नहीं हुआ था। यह सबकुछ किस तरह से शुरू हुआ इस पर निगाह डालते ही साफ़ हो जाता है कि अधिकांश साम्प्रदायिक दंगों की ही तरह यह दंगा भी निर्मित था, अपने आप पैदा नहीं हुआ था।

घटनाक्रम की शुरुआत 2 मार्च को होती है। समाचार पत्रों में रपट आई कि बारावफात के जुलूस के मार्ग को लेकर हिन्दू और मुसलमान समूहों में एक झगड़ा शुरू हुआ। शुरू में लोगों ने एक दूसरे पर लाठियाँ चलाईं और पथराव किया। बाद में भीड़ ने दुकानें और घर जलाने शुरू कर दिये। बारावफात जुलूस मिलाद उन नबी (हज़रत मुहम्मद के जन्मदिवस) पर सुन्नी मुसलमानों द्वारा निकाला जाता है। भारत के 80 प्रतिशत मुसलमान बरेलवी सम्प्रदाय से जुड़े हुए है। बरेलवी आन्दोलन 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में शुरू हुआ था और यह एक उदारवादी आन्दोलन था जो अन्य सम्प्रदायों की प्रथाओं को भी अपने भीतर सम्मिलित करता था। इस आन्दोलन पर बरेली के अहमद रिज़ा ख़ान के लेखन का भारी प्रभाव था, जो 20वीं सदी की शुरुआती दशक में लिख रहे थे। बरेली शहर में बारावफात का जुलूस काफ़ी मायने रखता है क्योंकि यहीं पर भारत के 80 फीसदी मुसलमानों का सबसे महत्वपूर्ण पूजा स्थल दरगाह-अल-हज़रत स्थित है। इस दिन न सिर्फ़ देश के विभिन्न हिस्सों से, बल्कि दुनिया के कई हिस्सों से मुसलमान बारावफात के जुलूस में शामिल होने आते हैं। ये जुलूस कई हिस्सों में निकलता है और एक जगह आकर सम्मिलित होकर फिर आगे दरगाह तक जाता है। दशकों से इस जुलूस को लेकर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच आपसी सहमति रही है। बल्कि इसमें हिन्दुओं ने अभी तक मुसलमानों की काफ़ी मदद की थी, झगड़ा तो बहुत दूर की बात है। अलग-अलग छोटे जुलूसों को अंजुमन कहा जाता है। विभिन्न अंजुमनों के रास्ते अलग-अलग होते हैं। इस पूरे समारोह को प्रबन्धित करने का काम अंजुमन खुद्दमा रसूल तंज़ीम नामक मुसलमानों का एक संगठन करता है। 2 मार्च को जब बरेली के गुलाब नगर इलाके का अंजुमन चहबाई क्षेत्र में आना चाहता था, जो उसके पूर्वनियोजित मार्ग पर नहीं था, तो चहबाई क्षेत्र के चन्द लोगों ने इसका विरोध किया। इसके बाद इस क्षेत्र के लोगों ने एक बैठक करके यह तय करने का फैसला किया कि अंजुमन को चहबाई क्षेत्र में आने दिया जाय या नहीं। अंजुमन खुद्दमा रसूल तंज़ीम के कासिम क मीरी ने बताया कि तय मार्ग रेल ट्रैक निर्माण के कारण बन्द कर दिया गया था जिसके कारण मार्ग में परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी थी। चहबाई क्षेत्र के नागरिकों ने, जो बैठक में शामिल थे, बताया कि उन्होंने अंजुमन को चहबाई क्षेत्र में आने देने का फैसला कर लिया था। लेकिन इसके पहले कि वे इस निर्णय को अंजुमन तक पहुँचा पाते, यह ख़बर आई कि कुछ लोगों ने अपनी छतों से अंजुमन पर पथराव करना शुरू कर दिया है। इसके जवाब में अंजुमन में शामिल कुछ मुसलमानों ने भी पथराव शुरू कर दिया। बस यहीं से मारपीट, लाठीबाज़ी और पथराव की शुरुआत हो गयी। थोड़ी ही देर में पूरे शहर में यह ख़बर अद्भुत तेज़ी से फैली। पूरा शहर दंगों की चपेट में आ गया। इस पूरे घटनाक्रम के दौरान संघ और भाजपा के कार्यकर्ताओं ने बेहद कुशलता से अफवाहें फैलाने का काम किया। साम्प्रदायिक दंगों का इतिहास बताता है कि हमेशा से ही दंगों में साम्प्रदायिक शक्तियों द्वारा अफवाहें फैलाए जाने का बड़ा योगदान रहा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले से ही संघ परिवार इस काम में लगा हुआ है और अब तक पारंगत हो चुका है। ज्ञान पाण्डेय, पॉल आर. ब्रास आदि जैसे तमाम इतिहासकार और सामाजिक वैज्ञानिक अपने अध्ययनों में दिखला चुके हैं कि ये अफवाहें किस तरह से फैलायी जाती हैं और ये

दंगों को भड़काने में किस प्रकार योगदान करती हैं। साम्प्रदायिक भीड़ ने जगह-जगह दुकानों और मकानों को जलाना शुरू कर दिया। अब सवाल यह उठता है कि जब चहबाई क्षेत्र के नागरिक जुलूस को अपने इलाके से गुज़रने की इजाज़त देने ही वाले थे तो अंजुमन पर पथराव किन लोगों ने शुरू किया?

दंगों की शुरुआत के बाद काफ़ी समय तक तो प्रशासन ने कोई विशेष कदम ही नहीं उठाया। इसके निर्देश सीधे मायावती सरकार से आए थे। इसका कारण यह था कि बरेली के संसद क्षेत्र से पिछले छह बार से भाजपा नेता सन्तोष गंगवार ने जीत हासिल की थी। लेकिन पिछले लोकसभा चुनावों में कांग्रेस के प्रवीण सिंह अरुण ने उसे लगभग साढ़े नौ हज़ार वोट के मामूली अन्तर से हरा दिया। इसका कारण यह था कि बरेली संसद क्षेत्र में भाजपा का आधार लोध और कुर्मी जातियों के बीच रहा था, जो तेज़ी से खिसक रहा था। इसके कारण ही आखिरी लोकसभा चुनावों में भाजपा को हार का सामना करना पड़ा। इसके कारण भाजपा में काफ़ी बेचैनी थी। वापस अपना आधार हासिल करने के लिए भाजपा ने हमेशा की तरह साम्प्रदायिक तनाव को भड़काने का रास्ता चुना। इसकी तैयारी वह लम्बे समय से कर रही थी।

दूसरी ओर मायावती उत्तर प्रदेश में कांग्रेस के बढ़ते आधार से घबराई हुई है जिसके कारण उसने इस बात की इजाज़त दी कि साम्प्रदायिक तनाव फैले और 11 दिनों तक वास्तव में कोई विशेष कार्रवाई नहीं हुई। दूसरी तरफ़ कांग्रेस के सांसद ने इस पर कोई ध्यान ही नहीं दिया जिसके कारण कांग्रेस को नुकसान हो रहा है और बसपा को फायदा। भाजपा ने अपना पुराना तरीका इस्तेमाल किया। दरअसल पिछले कई बार से मिलाद उन नबी और होली या तो एक ही दिन पड़ रहे थे, या दो दिनों के भीतर पड़ रहे थे। मुसलमानों ने हर बार प्रशासन की इस गुज़ारिश को स्वीकार किया था कि वे जुलूस ऐन मिलाद उन नबी के दिन न निकालें। इसके कारण हर बार यह त्योहारों का दौर आराम से गुज़र जा रहा था। संघ परिवार ने इसी को एक मौके में तब्दील करने का फैसला किया। हर बार एक-दो कट्टरपन्थी मुसलमान नेता अपना जुलूस मिलाद उन नबी के दिन ही निकाल रहे थे। लेकिन इसका कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता था।

लेकिन इस बार इसके जवाब में 28 फरवरी को कुछ लोगों ने एक मस्जिद के भीतर गन्दे कपड़े फेंक दिये। इसके बाद पुलिस ने कुछ लोगों को गिरफ़्तार किया। हिन्दू जागरण मंच, जो कि संघ का ही एक मुखौटा है, ने इसके ख़िलाफ़ पुलिस थाने पर प्रदर्शन किया। इसी बीच बड़ा बाज़ार के व्यापारियों ने (जो हमेशा ही सबसे प्रतिक्रियावादी फासीवाद के समर्थक होते हैं) पुलिस के उस आदेश का विरोध करते हुए रास्ता जाम कर दिया जिसमें पुलिस प्रशासन ने बड़ा बाज़ार से होलिका दहन की राख को हटाने के लिए कहा था ताकि बारावफात का जुलूस वहाँ से गुज़र पाए। व्यापारियों ने माँग की कि तीन दिनों तक राख वहीं रहनी चाहिए। पुलिस प्रशासन ने यह बात मान ली और राख के इर्द-गिर्द एक स्लैब की दीवार खड़ी कर दी। इसके बाद जुलूस वाले दिन विभिन्न अंजुमनों को जगह-जगह संघ के कार्यकर्ताओं ने रोकने की कोशिश की। और अन्त में, चहबाई की घटना घटित हुई।

साफ़ है कि यह दंगे कोई स्वतःस्फूर्त रूप से दो समुदायों के बीच नहीं हुए। इन्हें योजनाबद्ध ढंग से संघी फासीवादियों ने अंजाम दिया। अफ़वाहों और झूठों के जरिये नफ़रत फैलायी गयी और दोनों समुदायों को आपस में लड़ा दिया गया। पुलिस के एक आला अधिकारी ने बताया कि बरेली पारम्परिक तौर पर साम्प्रदायिक तनाव से मुक्त शहर है। लेकिन पिछले तीन-चार सालों के दौरान साम्प्रदायिक तनाव की घटनाएँ सुनने में आने लगी हैं। बरेली में सबसे अधिक बिकने वाले हिन्दी दैनिक *अमर उजाला* के एक भूतपूर्व सम्पादक ने बताया कि रोहिलखण्ड के पूरे क्षेत्र से ही हाल में साम्प्रदायिक तनाव की ख़बरें आने लगी हैं। वरुण गाँधी ने पिछले साल पड़ोस के पीलीभीत जिले में एक भड़काऊ भाषण दिया था। आरएसएस ने पूरे रोहिलखण्ड इलाके में जगह-जगह सरस्वती शिशु मन्दिर खोलने शुरू कर दिये हैं।

इसी से समझा जा सकता है कि भाजपा रोहिलखण्ड के अलग राज्य की माँग को इतनी गम्भीरता से क्यों उठा रही है। इस पूरे इलाके में कुर्मियों और लोधों की अच्छी-खासी आबादी है। ये भाजपा का पारम्परिक आधार हैं। पिछले कुछ समय में भाजपा का आधार इनमें खिसका है। लेकिन भाजपा इस आधार को फिर से हासिल करने की लम्बी तैयारी कर रही है। फिलहाल, उत्तर प्रदेश के जिन कुछ क्षेत्रों में भाजपा की ताक़त रह गयी है, उनमें से रोहिलखण्ड एक है। और भाजपा यहाँ से उखड़ने से बचने के लिए इस पूरे क्षेत्र को साम्प्रदायिक तनाव और दंगों में धकेलने से भी बाज़ नहीं आने वाली। बरेली उन शहरों में से एक है जहाँ मुसलमान आबादी घेटो में नहीं रहती, बल्कि उनकी पूरी रिहायश हिन्दुओं के साथ मिली-जुली है। इसका कारण यह है कि दोनों समुदायों के बीच परस्पर आर्थिक निर्भरता के रिश्ते हैं, जो अपने आप में सौहार्द्र बरकरार रखने का एक बड़ा कारण है। लेकिन गुजरात के कई शहरों में भी आर्थिक परस्पर निर्भरता के असर को तोड़ने में संघी कामयाब रहे थे। इसलिए इस साम्प्रदायिक सौहार्द्र को कोई दिव्य प्रदत्त वस्तु नहीं माना जा सकता।

साम्प्रदायिक तनाव को रोकने के लिए, भगतसिंह के शब्दों में, वर्ग चेतना को बढ़ाने की आवश्यकता होती है। यह बात न सिर्फ़ बरेली के लिए सच है, बल्कि हर जगह के लिए सच है। साम्प्रदायिक फ़ासीवाद को रोकने का एक ही रास्ता है मेहनतकश की वर्ग एकता। किसी भी किस्म का मानवतावादी नेहरूआई धर्मनिरपेक्षतावाद न कभी साम्प्रदायिक फ़ासीवाद को रोक पाया है और न ही रोक पाएगा। मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति ही साम्प्रदायिक फ़ासीवादी राजनीति का एकमात्र जवाब है।

विज्ञान

पूँजी की सेवा में विज्ञान

● प्रशान्त

आज से करीब 1 लाख वर्षों पूर्व आधुनिक मानव जाति अर्थात होमोसेपियंस (Homosapiens) का जन्म उस समय के उन्नत नरवानर (Ape-man) से हुआ और उसके बाद ही मानव समाज अस्तित्व में आया। इसी के साथ इन्सान ने अपनी व अपने समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रम करना शुरू किया। श्रम की शुरुआत जंगली जानवरों से अपनी रक्षा करने व भोजन के लिए जानवरों का शिकार करने से हुई। नरवानर से नर बनने की प्रक्रिया में मानव ने प्राकृतिक वस्तुओं को अपनी ज़रूरतों के हिसाब से ढालना शुरू किया और इस प्रकार इन्सानों ने पहली बार जीवित रहने के लिए आवश्यक फौरी शर्तों की पूर्ति के लिए प्रकृति को समझना, उस पर नियंत्रण स्थापित करना व प्राकृतिक शक्तियों से आज़ाद होने की शुरुआत की। श्रम की लम्बी प्रक्रिया में इन्सान ने शिकार करने के पत्थर के सामान्य औजारों से आगे बढ़कर तीर-धनुष जैसे थोड़े जटिल औजारों को बनाना व इस्तेमाल करना सीखा, फिर आग की खोज की व उसका उपयोग करना सीखा, पहिए का आविष्कार किया, कृषि करना शुरू किया तथा पशु-पालन व पशुओं से काम करना शुरू किया। इस प्रकार मानव द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने अस्तित्व को बनाए रखने व विकास करने की प्रक्रिया में प्राकृतिक शक्तियों के साथ संघर्ष के रूप में किये गए हज़ारों साल के सामूहिक श्रम ने ही अनुभव और तथ्य की वह समृद्ध सम्पदा प्रदान की जिसे 14वीं-17वीं शताब्दी के यूरोप में पुनर्जागरण और प्रबोधन काल के दौरान सुव्यवस्थित, सुघटित व आगे विकसित किया गया तथा एक तर्कपरक व प्रयोग द्वारा सिद्ध किये जा सकने वाले आधुनिक विज्ञान की नींव डाली गयी। नवपाषाण काल में पहली बार कृषि करने के प्रमाण मिलते हैं। वी. गॉर्डन चाइल्ड नामक प्रसिद्ध नृविज्ञानी ने इसे नवपाषाण क्रान्ति का नाम दिया। नवपाषाण क्रान्ति के साथ इन्सान ने पहली बार प्रकृति पर काम करके कुछ ***पैदा*** किया। इसके पहले प्रकृति उसे जो देती थी, वह उसे प्राप्त करता था। इसके बाद, एक अस्तित्व के संघर्ष की लम्बी यात्रा में इन्सान ने पैदा करने के काम को तमाम और क्षेत्रों तक विस्तारित कर दिया। वह औज़ार, घर, और तमाम दूसरी वस्तुएँ बनाने लगा। इस उत्पादक श्रम को करने की प्रक्रिया में ही उसने इन्द्रीयग्राह्य ज्ञान का एक विराट समुच्चय पैदा किया। विज्ञान इसी इन्द्रीयग्राह्य ज्ञान के तर्कसंगत ज्ञान में रूपान्तरण तथा मानव मस्तिष्क में प्रकृति के नियमों के सर्वोच्च सूत्रीकरण का नाम है। कहने की ज़रूरत नहीं है कि विज्ञान मानवीय श्रम से ही उत्पन्न हुआ है और यही इसकी जीवन शक्ति है। अतः अगर विज्ञान पलटकर श्रम की सेवा न करे तो उसका विकास मन्द हो जाता है और अगर किसी लम्बे ऐतिहासिक दौर तक ऐसा ही हो तो रुक जाता है। वह मात्र एक किताबी ज्ञान बनने लगता है। इसके विपरीत, अगर मानवीय श्रम विज्ञान से लैस हो जाए तो वह समाज के विकास की नई मंजिलें तय करने का रास्ता खोल देता है। समाज विकास की नई मंजिलों में नई ज़रूरतें जन्म लेती हैं जिनको पूरा करने के लिए विज्ञान को आगे विकसित करना ज़रूरी हो जाता है। इस प्रकार उत्पादक मानवीय श्रम व विज्ञान एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं तथा एक-दूसरे को प्रभावित व विकसित करते हुए निरन्तर विकास की नई मंजिलों पर पहुँचते जाते है और प्रक्रिया इसी प्रकार चलती रहती है। जब कोई समाज व्यवस्था विज्ञान के विकास में बाधा बन जाती है तो विज्ञान में गुणात्मक विकास के लिए समाज विकास में भी गुणात्मक छलाँग की आवश्यकता होती है।

14वीं-17वीं शताब्दी के पुनर्जागरण-प्रबोधन-वैज्ञानिक क्रान्ति के काल के दौरान जब आधुनिक विज्ञान की नींव पड़ी, जिसने क्रमशः विकसित होते हुए उत्पादन के नए उन्नत साधनों को जन्म दिया, उत्पादक शक्तियों को विकसित किया, इन्सान की चेतना में तर्कणा व चिन्तन के नए स्तरों का संचार किया तथा और भी ज़्यादा महत्वपूर्ण वैज्ञानिक आविष्कारों की पृष्ठभूमि तैयार कर दी तो उस समय की सामन्ती समाज व्यवस्था, जो कि पिछड़ी उत्पादन शक्तियों, पुराने कम उन्नत व छोटे पैमाने के उत्पादन के साधनों पर आधारित थी तथा अन्धविश्वासों से भी भरी हुई थी, तेजी से विकसित होती उत्पादक शक्तियों व विज्ञान के विकास में बाधा उत्पन्न करने लगी। 18वीं शताब्दी में हुए कई महत्वपूर्ण आविष्कारों जैसे भाप इंजन, पावरलूम, विद्युत टेलीग्राफी, बिजली उत्पादक बैटरी, लाइटिंग रॉड आदि के अतिरिक्त कई नई तकनीकों का विकास हुआ, जैसे लोहा परिष्कृत करने की तकनीक, परिष्कृत कोयला बनाने की तकनीक। नए समुद्री मार्गों व यातायात तथा संचार के नए तीव्र माध्यमों के विकास के साथ ही पुराने सामन्ती सामाजिक सम्बन्धों तथा नई विकसित होती उत्पादक शक्तियों के बीच अन्तर्विरोध बहुत तीक्ष्ण व सघन हो गए। इन नयी तकनीकों और आविष्कारों के पीछे समाज में वर्ग संघर्ष की बदलती स्थितियाँ थीं। सामन्ती व्यवस्था के भीतर ही सामन्तों के ऐशो-आराम और दिखावे की संस्कृति की आवश्यकताओं को पूरा करने के

लिए दस्तकारों का एक पूरा वर्ग अस्तित्व में आया था। इस वर्ग के अस्तित्व में आने के साथ ही माल उत्पादन का विचारणीय पैमाने पर विकास शुरू हुआ। प्रारम्भ में दस्तकारों द्वारा उत्पादित माल को खरीदने के लिए मण्डियों का विकास हुआ। इन मण्डियों को दस्युओं आदि के हमले से बचाने के लिए इसके इर्द-गिर्द किलेबन्दी की जाने लगी। इस किलेबन्दी के भीतर बाद में एक पूरा अलग जीवन विकसित होने लगा। इन जगहों को फ्रांसीसी भाषा में बूर्ज कहा जाता था। इसी शब्द से 'बुर्जुआ' शब्द निकला, जिसका अर्थ अब हो चुका है पूँजीवादी। लेकिन शुरुआत में इसका अर्थ था बूर्ज का निवासी। बूर्ज के अन्दर की दुनिया ही बाद में नगर के रूप में विकसित हुई। बाद में यहाँ प्रशासनिक कार्यों के केन्द्र भी स्थापित होने लगे। ये जगहें कलाओं का भी केन्द्र बनने लगीं। इसके साथ ही इन जगहों पर प्रकाशन संस्कृति और प्रेस का भी विकास हुआ। इन परिवर्तनों के साथ ही इन बूर्जों में एक मध्यवर्ग अस्तित्व में आया जो कला, विज्ञान, संस्कृति आदि में दिलचस्पी रखता था। ये दस्तकारों की ही औलाद था। यही वह वर्ग था जिसने पुनर्जागरण और प्रबोधन के आन्दोलनों का नेतृत्व किया और वैज्ञानिक क्रान्ति के प्रमुख आविष्कारों का जनक बना। इसी वर्ग ने धर्म और सामन्तवाद की बेड़ियों के विरुद्ध सबसे पहले आवाज़ उठायी और वैकल्पिक विचार प्रस्तुत किये। दस्तकारों का पूरा वर्ग और नवजात मध्यवर्ग इसके साथ था। इसके अतिरिक्त गाँवों में सामन्तों के निर्मम शोषण के विरुद्ध किसान वर्ग विद्रोह करने लगे थे। अगर हम पूरी दुनिया में 16वीं और 17वीं शताब्दी के सामन्तवाद के इतिहास पर निगाह डालें, तो हम पाएँगे कि वह किसान विद्रोहों से भरा हुआ है। बूर्जों के नवोदित पूँजीपति वर्ग ने सामन्तवाद के विरुद्ध 'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व' और 'जो जमीन को जोते बोए, वह ज़मीन का मालिक होए' का नारा दिया। इस नारे तले नवोदित पूँजीपति वर्ग के नेतृत्व में निम्न पूँजीपति वर्ग, किसान वर्ग और दस्तकारों के तहत काम करने वाले नवजात सर्वहारा वर्ग ने सामन्तवाद-विरोधी क्रान्तियाँ कीं। इस प्रकार नयी उन्नत उत्पादक शक्तियों और पुराने पिछड़े सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों के बीच के तीखे होते अन्तरविरोधों का समाधान 18वीं-19वीं शताब्दी में यूरोप के कई देशों व अमेरिका में पूँजीवादी क्रान्तियों के रूप में सामने आया। इन क्रान्तियों के फलस्वरूप एक नई, सामन्तवाद से कई गुना उन्नत पूँजीवादी व्यवस्था अस्तित्व में आयी जिसने विज्ञान के विकास को सामन्ती अवरोधों से निर्बन्ध कर दिया, उत्पादक शक्तियों का अभूतपूर्व विकास हुआ, उत्पादन के स्तर में हुई वृद्धि ने पिछले सभी मानकों को ध्वस्त कर दिया तथा मानव चेतना व प्रकृति के नियमों की उसकी समझ में भी गुणात्मक विकास हुआ। मनुष्य ने न सिर्फ़ गहरे से गहरे महासागरों की गहराई से लेकर ऊँचे से ऊँचे पर्वतों की ऊँचाई नापी, बल्कि दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक पूरी पृथ्वी को नाप डाला; मनुष्य ने सुदूर अन्तरिक्ष तक में पहुँचना सम्भव बना लिया तथा उनके गूढ़ रहस्यों को सुलझाना शुरू कर दिया; बाल जितनी संकीर्ण रक्त कोशिकाओं के अन्दर प्रवेश कर सकने वाली अतिसूक्ष्म मशीनों से लेकर 27 कि.मी. लम्बी अत्यन्त जटिल मशीन का निर्माण किया जिसका उपयोग अभी चल रहे सर्न प्रयोग में किया जा रहा है; अन्तरिक्ष स्टेशन के रूप में अन्तरिक्ष में तैरता हुआ अपना अस्थायी घर बनाया, सैकड़ों सालों से मानव जीवन के लिए रहस्य बनी हई बीमारियों का केवल इलाज ही नहीं खोजा बल्कि जीनोम मैपिंग के जरिए उन बीमारियों को उनके कारणों सहित समूल नष्ट करने का रास्ता भी खोजा। इस प्रकार उत्पादक शक्तियों के निर्बन्ध होने के बाद विज्ञान गहरा व विस्तारित होता चला गया।

लेकिन जिस पूँजीवाद ने इन्सानियत को मीलों आगे पहुँचाया और मनुष्यों को बर्बर, नग्न और निर्मम सामन्ती उत्पीड़न और शोषण से मुक्त किया, वह आज पूरी दुनिया को क्या दे रहा है? ग़रीबी, बेरोज़गारी, युद्ध, भुखमरी, कुपोषण, महामारियाँ, दिमागी तौर पर बीमार युवा पीढ़ी, वेश्यावृत्ति...यह फेहरिस्त और लम्बी हो सकती है। एक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के रूप में पूँजीवाद की प्रगतिशील सम्भावनाएँ निश्शेष हो चुकी हैं। हर वर्ग व्यवस्था के साथ देर-सबेर यही होता है। समूचा मानव इतिहास इसका साक्षी है। जिन कारणों से इतिहास के एक दौर में सामन्तवाद दुनिया के लिए अप्रासंगिक और अनैतिहासिक हो गया था, उन्हीं कारणों से पूँजीवाद भी आज इन्सानियत के लिए अप्रासंगिक, अनैतिहासिक और मानवद्रोही हो चुका है। यह इतिहास को जो दे सकता था, वह दे चुका है और अब इसकी सही जगह इतिहास का कूड़ेदान है। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया को समझना ज़रूरी है।

मानव समाज के विकास में विज्ञान की भूमिका मनुष्यों की चेतना को अधिक से अधिक वैज्ञानिक, वस्तुपरक और उन्नत बनाने के अतिरिक्त, उत्पादक शक्तियों के विकास तथा श्रम की उत्पादकता बढ़ाने के द्वारा सामाजिक उत्पादन में वृद्धि करने से जुड़ी होती है। अतः जो कारक किसी सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक उत्पादन को बढ़ाने में मुख्य भूमिका निभाते हैं उस व्यवस्था में विज्ञान के विकास की दिशा व परिमाण निश्चित करने में भी मुख्यत उन्हीं की निर्णायक भूमिका होती है।

जहाँ तक पूँजीवादी व्यवस्था की बात है तो वह उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व पर आधारित होती है। पूँजीवादी व्यवस्था में सामाजिक उत्पादन बढ़ाने के पीछे मुख्य प्रेरेक शक्ति मुनाफ़ा कमाना तथा उस मुनाफ़े को लगातार बढ़ाते जाना होता है क्योंकि बाज़ार की अन्धी ताकतें पूँजी के स्वामी को लगातार अपनी पूँजी में इज़ाफ़ा करने के लिए मजबूर करती हैं, अन्यथा ''मुक्त बाज़ार'' की प्रतियोगिता में कार्यरत अन्य प्रतिस्पर्धी पूँजियों द्वारा उसको निगल लिए जाने का ख़तरा बना रहेगा। अतः हरेक पूँजीपति श्रम की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए उत्पादन के नए उन्नत साधनों का इस्तेमाल करने व नई उन्नत तकनीकों को इस्तेमाल करने के लिए मजबूर होता है। इसके लिए वह रिसर्च एण्ड डेवलपमेण्ट में निवेश करता है जिसकी नई तकनीकों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसके लिए बड़े-बड़े शोध संस्थान खोले जाते हैं, वैज्ञानिकों एवं

शोधकर्त्ताओं को भाड़े पर रखा जाता है। ज़ाहिर है जो पूँजीपति रिसर्च एण्ड डेवलपमेण्ट में निवेश करने में जितना अधिक सक्षम होता है उसको उत्पादन के उतने ही उन्नत साधन व तकनीकें प्राप्त होती हैं, उसका उत्पादन व मुनाफ़ा उतना ही अधिक होता है तथा बाज़ार में उसके बने रहने व फलते रहने के लिए परिस्थितियाँ उतनी ही अधिक अनुकूल होती हैं। अतः छोटे पूँजीपति जो रिसर्च व डेवलपमेण्ट में अधिक निवेश करने में सक्षम नहीं होते है, पिछड़ी हुई तकनीकों व मशीनों से उत्पादन करवाने को मजबूर होते हैं। उनका मुनाफ़ा लगातार कम होता जाता है और वे तबाह होते चले जाते है। इस प्रकार बाज़ार पर धीरे-धीरे बड़े पूँजीपतियों का अधिकार होता जाता है। पूँजी के इस बढ़ते संकेन्द्रण के साथ मुनाफ़े को केन्द्र में रखते हुए विज्ञान व तकनीक का तेज़ी से विकास होता है और उत्पादन में नई उन्नत मशीनों का उपयोग बढ़ता जाता है।

इस प्रकार पहले जो काम कई लोगों द्वारा किया जाता था अब वह केवल कुछ लोगों द्वारा करना सम्भव हो जाता है। मुनाफ़े के लिए विज्ञान एवं तकनीकी विकास का उपयोग मशीनों द्वारा मज़दूरों की बड़ी संख्या के विस्थापन को सम्भव बना देता है और लगातार बढ़ावा देता है; एक बड़ी आबादी लगातार बेरोज़गारों की भीड़ में शामिल होती जाती है। इसके साथ ही कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों को कम से कम मज़दूरी पर 12-14 घण्टे खटाने के लिए पूँजीपति वर्ग मजबूर करता है क्योंकि उसके हाथ में दर-दर की ठोकरें खाने को मजबूर आबादी के रूप में बेरोज़गारों की एक विशाल आरक्षित फौज होती है, जो जीवित रहने के लिए बड़ी मुश्किल से दिन में एक वक्त पेटभर पाने की जद्दोजहद में किन्हीं भी शर्तों पर काम करने के लिए तैयार होती है। इस प्रकार श्रम करने वाली व सुई से लेकर जहाज तक सभी वस्तुओं के उत्पादन में प्रत्यक्ष रूप से शारीरिक श्रम करने वाली मेहनतकश आबादी खुद अपने श्रम द्वारा बनाए गए भौतिक व आत्मिक सुख के आधुनिक साधनों से वंचित होती जाती है। वह ख़ुद कारखानों में काम करने वाली मशीन का कलपुर्जा मात्र बनकर रह जाती है तथा उसी के व उसके पूर्वजों के श्रम के बल पर जन्मे विज्ञान, कला, दर्शन आदि के ज्ञान से रहित हो जाती है और मानवीय जीवन से गिरकर पाशविक जीवन जीने के लिए मजबूर कर दी जाती है। अतः उसके लिए ये सारा ज्ञान-विज्ञान एक दूसरी दुनिया की व अनजान वस्तु बनकर रह जाता है।

इस प्रकार शारीरिक श्रम करने वाली जनता के श्रम का विज्ञान से अलगाव हो जाता है। ज्ञान-विज्ञान महज़ बौद्धिक श्रम करने वाले या कोई श्रम न करने वाले उच्च मध्यम वर्ग और उच्च वर्गों की बपौती बनकर रह जाता है। जैसा कि हमने पहले कहा है उत्पादक श्रम (मानसिक और शारीरिक, दोनों) के विकास की प्रक्रिया में ही ज्ञान पैदा और विकसित हुआ है। इससे कटने के साथ ही विज्ञान अपनी जीवन शक्ति से काफ़ी हद तक कटता जाता है। यही कारण है कि आज विज्ञान के विकास के प्रेरक का काम युद्ध, प्रतिस्पर्द्धा में टिके रहने के लिए ऐसे यन्त्रों का विकास करना है, जो मनुष्यों को काम से बेदख़ल करें, या अमूर्त विज्ञान है जिसका उत्पादन करने वाले वर्गों से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है। निश्चित रूप से इन परिवर्तनों के महत्व की अनदेखी नहीं की जा सकती है। लेकिन इतना ज़रूर कहा जा सकता है एक ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत, जिसके केन्द्र में समस्त मनुष्यों की आवश्यकता को पूरा करना और मानवीय जीवन को अधिक से अधिक वैविध्यपूर्ण और सुन्दर बनाना हो, विज्ञान ने कहीं और तेज़ रफ़्तार प्रगति की होती। इसका कारण यह है कि विज्ञान के विकास के कार्य को समाज के 5 प्रतिशत लोग ही नहीं करते। सैद्धान्तिक से लेकर व्यावहारिक विज्ञान तक के विकास में जनता की विशाल बहुसंख्या की भागीदारी होती। सामान्य संभाविता (प्रोबेबिलिटी) के सिद्धान्त से भी समझा जा सकता है कि ऐसे में विज्ञान को सामूहिक मेधा की ऐसी प्रचण्ड ऊर्जा मिलती, जो उसे छलांगों में आगे बढ़ाती।

इसके विपरीत, पूँजीवादी सभ्यता और समाज में बाज़ार का राज होता है जिसमें मुनाफ़े का नियम काम करता है। बाज़ार पर बड़े पूँजीपतियों का अधिकार होने के साथ ही उनकी अन्धाधुन्ध मुनाफ़े की हवस और अधिक बढ़ती जाती है। शोध संस्थानों में निवेश तो लगातार बढ़ता जाता है लेकिन शोध कार्य का दायरा लगातार उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित होता जाता है जिनकी तुरन्त मुनाफ़ा बढ़ाने वाली तकनीकों व इस मुनाफे की रक्षा के लिए होने वाले युद्धों की तैयारी के लिए उन्नत अस्त्रों-शस्त्रों व तकनीकें विकसित करने के लिए ज़रूरत होती है। वैज्ञानिकों की इच्छा, प्रतिभा व सृजनात्मकता का लगातार दमन किया जाता है तथा उन्हें एक प्री-प्रोग्रैम्ड (पूर्व-कार्यक्रमित) रोबोट की तरह पहले से तय मानकों तक सीमित करते हुए, केवल ऊपर से प्राप्त, उनके मालिकों द्वारा निर्देशित कामों को पूरा करने के लिए बाध्य किया जाता है। उन्हें सामाजिक जीवन से काटकर प्रयोगशालाओं की चारदीवारी के भीतर रहने के लिए विवश कर दिया जाता है। ऐसा यह व्यवस्था हमेशा ज़ोर-ज़बरदस्ती से ही नहीं करती बल्कि माल-पूजा की संस्कृति को बढ़ावा देकर करती है। भौतिक प्रोत्साहन और निजी लाभअर्जन की पूरी व्यवस्था बचपन से ही मस्तिष्कों को इस कदर ढालती है कि लोग पैसा कमाने और पैसे से सभी भौतिक सुख-सुविधाओं को अर्जित कर लेने को ही जीवन का पर्याय समझते हैं। पूँजीवादी समाज में इस उपभोगवाद का एक बाज़ारू आध्यात्मिकता के साथ अजीबो-ग़रीब मेल चलता रहा है।

ऐसी संस्कृति और सभ्यता में पलने-बढ़ने वाला वैज्ञानिक विज्ञान की सामाजिक भूमिका से अनजान अपने वैज्ञानिक कौशल का उपयोग महज़ अपने जीवन को सँवारने और अधिक से अधिक सुविधासम्पन्न बनाने के लिए करता है। निश्चित रूप से उसकी अपनी वैज्ञानिक जिज्ञासाएँ होती हैं और विज्ञान के प्रति उसकी एक हद तक प्रतिबद्धता भी होती है। लेकिन "भौतिक" चिन्ताएँ हर-हमेशा उस पर हावी रहती हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक व शोधकर्त्ता आम जनजीवन से कट जाते हैं, प्रत्यक्ष

उत्पादन से उनका सम्बन्ध अपने अनेक रूपों में कम होता जाता है, पैसा और पैसे की संस्कृति सिर चढ़कर बोलने लगती है और शोध संस्थान धीरे-धीरे मानसिक रोगियों व चिकित्सीय रूप से हताश तत्वों को पैदा व पोषित करने वाले केन्द्र मात्र बन कर रह जाते हैं।

इसके साथ ही साथ वैज्ञानिकों और शोधकर्त्ताओं की बढ़ती माँग की पूर्ति करने की आवश्यकता भी होती है। इसके लिए बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में विज्ञान, इंजीनियरिंग के पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं। परन्तु इनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राओं की प्रतिभा को पूरी तरह पूँजी की सेवा में समर्पित करने के लिए पूँजीवाद दो तरफा-नीति अपनाता है। एक तरफ तो इन विश्वविद्यालयों में लगातार फीसें बढ़ाकर व सीटों में सापेक्षिक (कुल योग्य आबादी की तुलना में) कमी करके इनमें प्रवेश के लिए होने वाली प्रतियोगी परीक्षाओं व चयन प्रक्रिया को अत्यन्त जटिल बनाकर, विश्वविद्यालयों के निजीकरण को बढ़ावा देकर तथा शिक्षा को एक बाज़ारू माल में रूपान्तरित करके लगातार समाज के कम आय वाले मेहनतकश व निम्न मध्मवर्गों से आने वाले छात्र-छात्राओं का इनमें प्रवेश कठिन बनाता जाता है, और ये विश्वविद्यालय केवल रईसज़ादों की बपौती बन कर रह जाते हैं। इन रईसों की औलादों ने अपने जीवन में न तो कभी शारीरिक श्रम किया होता है और न ही उसके महत्व को जानते-समझते हैं; इस वजह से इनको शारीरिक श्रम व शारीरिक श्रम करने वाली जनता से कोई सरोकार नहीं होता, बल्कि जिस परिवेश व संस्कृति में वे पले-बढ़े होते हैं वह इनको मेहनत-मज़दूरी करने वालों को हेय दृष्टि से देखना व तुच्छ समझना ही सिखाती है; वहीं दूसरी तरफ समाज के निचले संस्तरों से जो छोटी-सी आबादी सब बाधाओं के बावजूद इन विश्वविद्यालयों तक पहुँचने में सक्षम हो भी जाती है उन पर इन विश्वविद्यालयों की श्रम विरोधी, दूसरों की मेहनत पर ऐशो आराम करने की मानसिकता को बढ़ावा देने वाली सड़ी हुई पूँजीवादी संस्कृति लगातार अपना शिंकजा कसती जाती है; उनका लक्ष्य भी अधिक से अधिक पैसा कमाना, धनी बनना और अमीरज़ादों की जमात में शामिल हो जाना बन जाता है। अपने वर्ग से वे घृणा करने लगते हैं। सूत्र में कहें तो उनका वर्ग-रूपान्तरण हो जाता है।

इतिहास बताता है कि आम जनता के बीच से निकले ऐसे कुलीनीकृत तत्व ऐतिहासिक तौर पर धनी और कुलीन वर्गों से आने वाले तत्वों से भी अधिक प्रतिक्रियावादी होते हैं। इसके अलावा, इन विश्वविद्यालयों में सामाजिक सरोकार रखने वाली एक बहुत छोटी-सी आबादी जो फिर भी बची रहती है उनको यह व्यवस्था पिछड़े हुए गाँवों में छोटे-मोटे तकनीकी विकास के कामों में फँसा कर इस मुग़ालते में रखती है कि वे समाज के लिए कोई बड़ा बेहतरीन काम कर रहे हैं; या फिर ऐसे लोगों को सुधारवादी राजनीति और एन.जी.ओ. सेक्टर खींच ले जाता है। कुल मिलाकर, पूँजीवादी व्यवस्था उन्हें अपने वर्चस्व की पूरी संरचना के भीतर ही कहीं समायोजित कर लेती है और उनकी चेतना को व्यवस्था-परिवर्तन तक नहीं जाने देती।

इस प्रकार विज्ञान, वैज्ञानिक, शोधकर्ता और विज्ञान के छात्रों इन सबका उत्पादक श्रम और उत्पादक श्रम करने वाली मेहनतकश जनता से अलगाव अधिक से अधिक होता जाता है। परिणामतः विज्ञान अपनी जीवन शक्ति से वंचित होता जाता है। उसमें सतही कृत्रिम विकास तो क्रमिक प्रक्रिया में जारी रहता है लेकिन समाज से सापेक्षित रूप से पूर्ण कटाव उसे मृत और अबोधगम्यता की हद तक "अमूर्त" बनाता जाता है, एक ऐसा अमूर्तन जो वैज्ञानिक अमूर्तन नहीं कहा जा सकता। विज्ञान का विकास अधिक से अधिक श्रम-विरोधी रूप लेता चला जाता है और यह केवल अमीरज़ादों को आराम व मनोरंजन के नए-नए साधन प्रदान करने वाला उपकरण और मेहनतकश आबादी के शोषण को और अधिक दक्ष, सूक्ष्म और व्यापक बनाने वाला साधन मात्र बनकर रह गया है। इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था में विज्ञान समाज से कटकर बाज़ार के अधीन होता जाता है और इन अर्थों में पूँजी की सेवा करने वाला एक उपकरण मात्र बनकर रह जाता है। पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध नयी उत्पादक शक्तियों के विकास को न सिर्फ़ समाज के क्षेत्र में बाधित करने लगते हैं बल्कि विज्ञान के क्षेत्र में भी वे उनकी राह का रोड़ा बन जाते हैं। जब किसी खास सेक्टर में किसी बड़े पूँजीपति का एकाधिकार स्थापित हो जाता है और उस सेक्टर में उसके द्वारा कीमतें तय हो जाती हैं तो वह किसी भी नयी तकनीक या आविष्कार को तब तक सामने नहीं आने देता जब तक कि मुनाफ़े को बढ़ाने में उसकी योग्यता सिद्ध नहीं हो जाती। यदि कोई नया आविष्कार या नवोन्मेष बाज़ार में उसके एकाधिकार को ख़त्म कर फिर से प्रतियोगिता शुरू करने की सम्भावना रखता है तो वह उसे विकसित नहीं होने देता, ख़रीदकर पेटेण्ट करा लेता है और गुप्त रखता है, या विसरित नहीं होने देता। कई बार तो इसके लिए बड़े-बड़े कारपोरेशन वैज्ञानिकों को अगवा करने, उनकी हत्याएँ करने, उन्हें ख़रीद लेने आदि जैसे आपराधिक तौर-तरीकों का भी इस्तेमाल करते हैं। कुछ भी हो मुनाफ़ा कायम रहना चाहिए।

अतः स्पष्ट है कि पूँजीवाद ने विज्ञान व तकनीक को सामन्तवाद व अन्य प्राक-पूँजीवादी समाज व्यवस्थाओं से कई गुना अधिक विकसित तो किया है लेकिन आज वही पूँजीवाद विज्ञान व उत्पादक शक्तियों के आगे के विकास में अवरोध बन चुका है। सम्पूर्ण मानव जाति को सुविधासम्पन्न व खुशहाल बनाने की क्रान्तिकारी भूमिका को अदा करने के बजाय विज्ञान पूँजी के अधीन हो समाज में अमीर-ग़रीब के बीच की खाई को बढ़ाने और उन्नत युद्धक उपकरण विकसित करने, सर्वहारा आबादी को उसकी रोज़ी से बेदख़ल करने की प्रतिक्रियावादी भूमिका में आ गया है। इस व्यवस्था में विज्ञान के विकास की मुख्य चालक व प्रेरक शक्ति सम्पूर्ण मानव जाति को खुशहाल बनाना नहीं बल्कि केवल मुट्ठी भर लोगों का मुनाफ़ा बढ़ाना है। पूँजीवादी व्यवस्था के तहत इस अन्तरविरोध का हल नहीं

(पृष्ठ 34 पर जारी)

सामयिकी

गुजरात के हत्यारों के साथ इंसाफ़ के लिए विशेष जाँच दल

पूँजीवादी इंसाफ़ का रास्ता बेइन्तहा लम्बा, टेढ़ा-मेढ़ा और थकाऊ है

• शिवानी

आखिरकार 27 मार्च, 2010 को नरेन्द्र मोदी से उच्चतम न्यायलय द्वारा गठित एस.आई.टी. (विशेष जाँच दल) ने 2002 गुजरात जनसंहार से जुड़े मामलों के सिलसिले में पूछपाछ कर ही ली। इसके चलते कई दिनों से बने हुए रहस्य और अटकलबाजियों पर मोदी एस.आई.टी के सम्मुख पेश होंगे कि नहीं विराम भी लग गया। ज्ञात हो कि 2002 गुजरात नरसंहार के बारह बड़े मामलों की जाँच के लिए एस.आई.टी. के गठन का आदेश उच्चतम न्यायालय ने 2008 में दिया था। स्वयं सुप्रीम कोर्ट इस बात से सहमत था कि राज्य सरकार के अधीन स्वतन्त्र और निष्पक्ष जाँच सम्भव नहीं। एस.आई.टी. द्वारा मोदी को समन जारी करने की मुख्य वजह गुजरात नरसंहार के दौरान गुलबर्ग हाउसिंग सोसाइटी काण्ड में मारे गए काँग्रेस के पूर्व सांसद एहसान जाफ़री की पत्नी ज़ाकिया जाफ़री द्वारा दर्ज करायी गयी शिकायत है जिसमें उन्होंने मोदी, उनके मन्त्रीमण्डल के कई सदस्यों और कई आला नौकरशाहों और पुलिस अफ़सरों पर दंगों के दौरान हिंसा भड़काने में मदद का या जान-बूझकर निष्क्रियता बरतने का आरोप लगाया है। यदि एस.आई.टी की जाँच सही दिशा में आगे बढ़ती है और अपनी तार्किक परिणति तक पहुँचती है तो मोदी समेत 62 अभियुक्तों के खिलाफ ताज़ा एफ.आई.आर. दर्ज की जा सकेगी। इस सम्भावना से भारत की सुप्रसिद्ध सेक्युलर न्यायप्रिय 'सिविल सोसायटी' हर्षातिरेक की अवस्था में है। ऐसे में सवाल यह उठता है कि क्या एस.आई.टी द्वारा की जा रही तहकीकात वाकई गुजरात नरसंहार के कर्ता-धर्ताओं को सज़ा दिलाने में और पीड़ितों को न्याय दिलाने में सफल हो पायेगी? क्या यह जाँच और इसके नतीजे किसी भी रूप में साम्प्रदायिक दंगों में राज्य की प्रत्यक्ष या परोक्ष भूमिका पर लगाम कस पायेगी?

यह बात किसी से छिपी नहीं है कि जिन 1500 से 3000 लोगों ने इस भीषण कत्लेआम में अपनी जान गँवायी, वे किसी स्वतःस्फूर्त तरीके से होने वाले साम्प्रदायिक दंगों की भेंट नहीं चढ़े। दंगे हुए नहीं थे, भड़काए गए थे। फरवरी-मार्च 2002 में गुजरात में जो कुछ हुआ, वह पूर्व-नियोजित था जिसके कार्यान्वयन में राज्य मशीनरी का हर स्तर शामिल था। एस.आई.टी की जाँच अगर इस निष्कर्ष पर पहुँच भी जाती है, तो यह बात दीगर है कि अपराधियों को वह सज़ा मिलेगी जिसके वे वाकई हक़दार हैं। यहाँ मुद्दा केवल एस.आई.टी की विश्वसनीयता का नहीं हैं। एस.आई.टी के प्रमुख आर.के . राघवन ने बार-बार नरसंहार के पीड़ितों को न्याय दिलाने के लिए अपनी प्रतिबद्धता जाहिर की है। देश भर में धर्मनिरपेक्ष लोगों की एस.आई.टी द्वारा पेश की जाने वाली रिपोर्ट से काफ़ी अपेक्षाएँ हैं। लेकिन ऐसे मामले में, जहाँ स्वयं राज्य की भूमिका ही एक फासिस्ट संहारक की रही हो, वहाँ चन्द लोगों के ईमानदार हो जाने से और ईमानदारी के साथ न्याय के लिए संघर्ष करने मात्र से भविष्य में ऐसी वीभत्स घटनाओं पर अंकुश नहीं लग सकता। गुजरात नरसंहार के आठ लम्बे वर्षों बाद भी अगर मोदी गुजरात का मुख्यमन्त्री हो सकते हैं और क़ानून के डर के बगैर खुलेआम आज़ाद घूम सकते हैं, तो यह अपने आप में इस देश की न्यायिक व्यवस्था पर सवालिया निशान खड़ा करता है। यदि मान लिया जाय कि सभी 62 मुख्य अभियुक्तों के खिलाफ नये सिरे से एफ.आई.आर. दर्ज की जाती है, तो भी इन सबको सज़ा मिलने तक की पूरी न्यायिक प्रक्रिया इतनी लम्बी होगी कि सज़ा की सुनवाई तक इन अपराधियों में कई ऐयाशी की ज़िन्दगी बसर करने के बाद स्वाभाविक मौत मर चुके होंगे। बाबरी मस्जिद मसले से लेकर 1984 के सिख-विरोधी दंगे इस बात के ज्वलन्त उदाहरण हैं। प्राथमिकी दर्ज़ होगी; फिर केस चलेगा; जितने असली गवाह वादी पक्ष पेश करेगा उतने ख़रीदे हुए गवाह प्रतिवादी पक्ष पेश करेगा; बहुत से गवाह डर से अपने बयान बदल देंगे; मामला अटक जाएगा और कई दशक तक खिंच जाएगा।

दूसरी ओर, नरसंहार के आठ साल बाद भी जिन लोगों ने सबसे अधिक क्षति उठाई, उनके जीवन में कोई बदलाव नहीं आया है। इन सभी के लिए ज़िन्दगी नर्क से कम नहीं है। अंग्रेजी में प्रकाशित होने वाली पाक्षिक पात्रिका ''फ्रन्टलाइन'' के अप्रैल 9, 2010 अंक में छपे एक लेख में दंगों से पीड़ित लोगों की जीवन स्थितियों पर रोशनी डाली गयी है। फैज़ल पार्क, सिटिजन पार्क जैसे इलाकों में, जहाँ दंगा-पीड़ितों को

बसाया गया है, स्थितियाँ इन्सानों के रहने लायक नहीं हैं। ये दोनों कॉलोनियाँ अहमदाबाद के ऐसे इलाकों में बसाई गई हैं जहाँ शहर भर का कूड़ा-करकट फेंका जाता है। जहाँ-तहाँ खुले गटर मौजूद हैं। गन्दगी, सड़ाँध, बीमारियाँ ये सब इन दोनों कॉलोनियों की ख़ासियत हैं। ज़्यादातर लोग बेरोज़गार हैं, कुछेक आस-पास छोटा-मोटा धन्धा करते हैं। बच्चों के लिए आस-पास किसी स्कूल की व्यवस्था नहीं है इसलिए ज़्यादातर बच्चे स्कूल नहीं जाते हैं। डिस्पेन्सरी एवं स्वास्थ्य केन्द्र भी नदारद हैं। चूंकि आसपास कोई अस्पताल या डिस्पेन्सरी नहीं है, आपातकाल की स्थिति में लोगों को काफ़ी परेशानी का सामना करना पड़ता है, दोनों ही इलाकों में पीने का पानी तक नसीब नहीं होता। मुश्किल से आने वाले पानी के लिए पूरे इलाके में पानी भरने की होड़ मची रहती है। गन्दे, प्रदूषित वातावरण के कारण बच्चों में साँस से जुड़ी समस्याएँ आम हैं। साफ है कि दंगों के आठ साल बाद भी यहाँ रहने वाले लोगों के हालात बद से बदतर हैं। उन्हें आज भी असुरक्षा और भय के साये तले ज़िन्दगी बसर करनी पड़ती है। जिस प्रकार हिटलर के जर्मनी में यहूदियों को घेटो इलाकों में बसाया गया था, वैसे ही हिन्दुत्व की प्रयोगशाला गुजरात में मुसलमानों को घेटोनुमा इलाकों में बसाया गया है।

इन दोनों सवालों पर ग़ौर किये बग़ैर आप विशेष जाँच दल द्वारा मोदी से पूछताछ पर खुशी मनाकर क्या कर लेंगे? वास्तव में मोदी और उसके हत्यारे गिरोह के साथ इंसाफ़ का रास्ता जितना सीधा और सरल दिख रहा है, उतना है नहीं। अधिकांश मामलों में जैसा होता रहा है वैसा ही इस मामले में भी होने की उम्मीद सबसे ज़्यादा है। अव्वलन तो यह जाँच प्राथमिकी दर्ज होने तक भी मुश्किल से पहुँच पाएगी; कारण यह कि राज्य सरकार जाँच में किसी किस्म का सहयोग करने की बजाय राह में रोड़े अटकाएगी; पहले के जाँच दल के प्रमुख ने यही कहते हुए जाँच से अपने हाथ खींच लिये थे कि यह अर्थहीन कसरत है जो किसी परिणाम तक नहीं पहुँचेगी क्योंकि राज्य सरकार हर तरह से जाँच को मुकाम तक न पहुँचने देने के लिए अच्छी स्थिति में है; वह गवाहों को प्रभावित कर सकती है, प्रमाणों को गायब कर सकती है, जाँच अधिकारियों और कार्यकर्ताओं को भयभीत कर सकती है। दूसरी बात, अगर जाँच प्राथमिकी दर्ज़ करने की मंज़िल तक पहुँच भी गयी तो उसके बाद जो मुकदमा चलेगा वह इतनी जल्दी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचने वाला; सबसे अधिक सम्भावना इसी बात की होगी कि सबूतों और गवाहों के अन्तरविरोधी होने या अभियुक्तों के ख़िलाफ़ उनके परिणाममूलक न होने के कारण उन्हें सन्देह का लाभ देकर बाइज़्ज़त बरी कर दिया जाएगा; अगर यह मुकदमा किसी परिणाम पर पहुँचता भी है तो ज़्यादा उम्मीद यही होगी कि उस समय तक मोदी समेत उनका पूरा जनसंहारक गिरोह धर्म ध्वजा की रक्षा करने के ईनाम के रूप में स्वर्ग सिधार चुका होगा। तीसरी बात, इन सबके बावजूद पूँजीवादी वोटों की राजनीति में साम्प्रदायिकता का उपयोग होता ही रहेगा और लोगों की जानें इसकी भेंट चढ़ती ही रहेंगी। आज गुजरात में हुआ, कल कहीं और होगा। आज मोदी ने किया, कल कोई और करेगा। क्या आज़ादी के बाद के 63 वर्ष इस बात की गवाही नहीं देते? अगर इस कुचक्र से मुक्ति पानी है तो पूरी पूँजीवादी व्यवस्था, सभ्यता और समाज के ही विकल्प के बारे में सोचना होगा। हर इंसाफ़पसन्द नौजवान का आज यही फ़र्ज़ बनता है।

माया की माला और भारतीय पूँजीवादी जनतंत्र के कुछ जलते सवाल

● सत्यप्रकाश

बहुजन समाज पार्टी के 25वे स्थापना दिवस पर पिछले दिनों बसपा की नेता और उत्तर प्रदेश की मुख्यमन्त्री मायावती को करोड़ों रुपये के नोटों की माला पहनायी गयी। चैनल वालों ने बाक़ायदा हज़ार-हज़ार के नोटों का हिसाब लगाकर बता दिया कि माला में कम से कम 22 करोड़ रुपये के नोट तो होंगे ही। वैसे तो मायावती हर साल अपने जन्मदिन पर करोड़ों रुपये के उपहार बटोरती थीं। इसके लिए उनके उत्साही समर्थक प्रदेश भर में सरकारी मशीनरी और धौंस का इस्तेमाल करके जमकर वसूली करते थे। मगर इन उपहारों को पार्टी फण्ड के लिए "जनता" का सहयोग कहकर ऐसे आरोप खारिज कर दिये जाते थे। लेकिन एनाकोण्डा जैसी इस 22 करोड़ की माला को छिपाना मुश्किल था। सारी पार्टियों वाले फौरन टूट पड़े। इसके जवाब में बसपा ने अगले दिन फिर मायावती को 18 लाख के नोटों की माला पहनायी और ऐलान कर दिया कि वे बार-बार मायावती को ऐसी लखटकिया मालाएँ पहनाते रहेंगे। दूसरी पार्टियों को इसकी निन्दा करने का कोई हक नहीं है क्योंकि उनके नेता खुद भी कभी सोने का मुकुट पहनते हैं तो कभी चाँदी की तलवार प्राप्त करते हैं, आदि-आदि।

वाह क्या तर्क है! इस देश की तीन चौथाई आबादी बेहद ग़रीबी में जीती है। 84 करोड़ लोग महज़ 20 रुपये रोज़ पर गुज़ारा करते हैं और उत्तर प्रदेश की आबादी में ग़रीबों का प्रतिशत सबसे ज़्यादा है। जिस दलित आबादी का मायावती

प्रतिनिधि होने का दम भरती हैं उसका नब्बे प्रतिशत से अधिक हिस्सा जानलेवा और अपमानजनक ग़रीबी में डूबा हुआ है। मगर मायावती इन दबे-कुचले लोगें की आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक मुक्ति के लिए कुछ करने के बजाय अरबों की सम्पत्ति बटोरने और खुद को जीवित देवी घोषित करने में लगी हुई हैं। आज अगर डॉ. अम्बेडकर होते तो उनके नाम पर की जा रही राजनीति के इस रूप को देखकर वे भी शर्मा जाते। दलित मुक्ति की परियोजना को लेकर अम्बेडकर के चाहे जो भी विचार हों, मगर वे पश्चिमी पूँजीवादी जनतन्त्र के मूल्यों की बात करते थे जिसमें लोभ-लालच और अन्धी महत्वाकांक्षा के ऐसे फूहड़ प्रदर्शन की जगह नहीं थी।

यह बात पूरी तरह सही है कि दूसरी पार्टियों के नेता भला किस मुँह से मायावती की माला की निन्दा करेंगे? उनमें से कोई चाँदी के सिंहासन पर बैठता है, कोई मंच पर सोने का मुकुट धारण करता है, कोई चाँदी की तलवार स्वीकार करता है तो किसी को लाखों के सिक्कों से तौला जाता है। ज़ाहिर है, इन पार्टियों की ज़मीन पर खड़े होकर मायावती की आलोचना करने का कोई मतलब नहीं है। मगर क्या इसका जवाब यही है कि जो-जो इन पार्टियों और नेताओं ने किया है, वह सब हम भी करेंगे, उनसे भी चार क़दम आगे बढ़कर करेंगे? क्या अरबों रुपये खर्च करके विशालकाय स्मारक और मूर्तियाँ बनवाने से दलित मुक्ति की परियोजना एक क़दम भी आगे बढ़ेगी? माना कि सदियों से अपमानित-लांछित दलित आबादी में सम्मान की प्रबल चाहत है, लेकिन बहुसंख्यक दलित आबादी के जीवन की अपमानजनक परिस्थितियों को ख़त्म किये बिना क्या उन्हें समाज में सम्मान और बराबरी हासिल हो सकेंगे?

दलित अवाम की मुक्ति के बारे में डॉ. अम्बेडकर के विचार यूटोपियाई थे। मन्दिर प्रवेश या बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने से, या कुछ प्रतिशत दलितों को आरक्षण मिल जाने से अनुसूचित जातियों की भारी आबादी के जीवन में कोई खास फ़र्क नहीं पड़ना था। आज़ादी के बाद के 62 साल के अनुभव ने इसे साबित भी कर दिया है।

इस देश के सामाजिक ताने-बाने में हज़ारों साल से निरंकुशता और जनवाद का अभाव रहा है जिसे 200 वर्षों की गुलामी ने और बढ़ा दिया। दलित जातियों का बर्बर शोषण-दमन इस निरंकुश सामाजिक ढाँचे की सबसे बड़ी विशेषता रही है। परम्पराओं, रीति-रिवाजों, कर्मकाण्डों और देवी-देवताओं के नाम पर दलित जातियों पर उत्पीड़न और अपमान का कहर बरपा किया जाता रहा है। ग़रीबों को लूट और निचोड़कर समाज के हैसियतदार लोग अपनी विलासिताओं और सनकों पर पानी की तरह पैसा बहाते और जश्न मनाते रहे हैं। ऐसे में जिस आबादी के लोगों में नायक पूजा और देवी पूजा से सबसे अधिक नफ़रत होनी चाहिए थी, वे अगर "जीवित देवी" को बर्दाश्त कर रहे हैं तो यह समाज परिवर्तन की चाहत रखने वाले लोगों के लिए बेहद चिन्ता का विषय है। जिस समुदाय के नौजवानों में ऐश्वर्य के ऐसे फूहड़ तमाशों के प्रति घृणा भरी होनी चाहिए थी वे अगर उसके विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाते तो इसे कतई स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता। यह सब महज़ इसलिए मान लिया जाता है कि उनके बीच से कोई व्यक्ति ऊपर उठकर वही सबकुछ कर रहा है जो पहले उनके "मालिक" लोग किया करते थे, और इससे दलित अवाम के चोट खाये स्वाभिमान पर मरहम लगता है! मगर यह एक भयंकर ऐतिहासिक मिथ्याभास है। यह अपने आप को झूठी तसल्ली देने के सिवा और कुछ नहीं है। आज भी इस देश की बहुसंख्यक दलित आबादी गाँवों में ग़रीबी और भुखमरी के दलदल में धँसी हुई है। बेशक पुराने बर्बर सामन्ती उत्पीड़न और अपमान से उसे एक हद तक आज़ादी मिली है, लेकिन आज भी वह ग्रामीण जीवन के सबसे निचले पायदान पर बस किसी तरह जी रही है। गाँवों से उजड़कर शहरों में मज़दूरी करने वाली भारी ग़रीब आबादी में भी दलितों का बहुत बड़ा हिस्सा है जो बस जीने लायक मज़दूरी पर नरक से भी बदतर हालात में रहकर काम कर रहे हैं। उनकी हालत में इन सब अनुष्ठानों से क्या बदलाव आने वाला है?

इतिहास में हमेशा ही शासक वर्ग जनता की चेतना को अनुकूलित करके उससे अपने ऊपर शासन करने की अनुमति लेते रहे हैं। यहाँ भी ऐसा ही हो रहा है। जब तक मायावती जैसे नेताओं का यह तर्क आम दलित आबादी के बीच स्वीकारा जाता रहेगा कि जो कुछ सवर्ण करते रहे हैं, वही सबकुछ करने की उन्हें भी छूट है, तब तक व्यापक दलित जनता की मुक्ति का वास्तविक आन्दोलन आगे नहीं बढ़ेगा।

मायावती की राजनीति पर दलित समाज के भीतर से पुरज़ोर आवाज़ों का अब तक न उठना, न्यूनतम जनवादी चेतना की कमी को दिखलाता है। यह काफ़ी चिन्ता की बात है और दलित जातियों के सोचने-समझने वाले बाले नौजवान जब तक इस सवाल पर नहीं सोचेंगे तब तक आम दलित आबादी की ज़िन्दगी में बुनियादी बदलाव लाने की लड़ाई आगे नहीं बढ़ जाएगी। इसके लिए दलित समाज के भीतर व्यापक सांस्कृतिक कार्रवाइयां और प्रबोधन के काम को हाथ में लेना होगा।

जब तक लोग अपनी स्वतंत्रता का इस्तेमाल करने की ज़हमत नहीं उठाएंगे, तब तक तानाशाहों का राज चलता रहेगा; क्योंकि तानाशाह सक्रिय और जोशीले होते हैं, और वे नींद में डूबे हुए लोगों को ज़ंजीरों में जकड़ने के लिए, ईश्वर, धर्म या किसी भी दूसरी चीज़ का सहारा लेने में नहीं हिचकेंगे।

– वोल्तेयर

विरासत

राहुल सांकृत्यायन के जन्मदिवस (9 अप्रैल) के अवसर पर

हमारे सामने जो मार्ग है, उसका कितना ही भाग बीत चुका है, कुछ हमारे सामने है और अधिक आगे आने वाला है। बीते हुए से हम सहायता लेते हैं, आत्मविश्वास प्राप्त करते हैं, लेकिन बीते की ओर लौटना –यह प्रगति नहीं, प्रतिगति – पीछे लौटना – होगी। हम लौट तो सकते नहीं, क्योंकि अतीत को वर्तमान बनाना प्रकृति ने हमारे हाथ में नहीं दे रखा है। फिर जो कुछ आज इस क्षण हमारे सामने कर्मपथ है, यदि केवल उस पर ही डटे रहना हम चाहते हैं तो यह प्रतिगति नहीं है, यह ठीक है, किन्तु यह प्रगति भी नहीं हो सकती यह होगी सहगति – लग्गू–भग्गू होकर चलना – जो कि जीवन का चिह्न नहीं है। लहरों के थपेड़ों के साथ बहने वाला सूखा काष्ठ जीवन वाला नहीं कहा जा सकता। मनुष्य होने से, चेतनावान समाज होने से, हमारा कर्तव्य है कि हम सूखे काष्ठ की तरह बहने का ख्याल छोड़ दें और अपने अतीत और वर्तमान को देखते हुए भविष्य के रास्ते को साफ करें जिससे हमारी आगे आने वाली सन्तानों का रास्ता ज्यादा सुगम रहे और हम उनके शाप नहीं, आशीर्वाद के भागी हों।

– राहुल सांकृत्यायन

कलम के सिपाही गणेशशंकर विद्यार्थी के 79वें शहादत दिवस (25 मार्च, 1931) के अवसर पर

कॉलेज के विद्यार्थियों का कर्त्तव्य

"संसार में इस समय जितनी तेज़ी के साथ उलटा-पलटी हो रही है और हमारे देश को उससे कितना लाभ उठाना चाहिये, यदि हम इन बातों पर आवेश को बिलकुल अलग रखकर भी विचार करें तो हमें इस नतीजे पर पहुँचना पड़ेगा कि केवल उन युवक और युवतियों को छोड़कर जिन्होंने यह तय कर लिया है कि दुनिया में कुछ भी क्यों न हों हमें उससे कोई मतलब नहीं, हमें केवल अपने आराम से सरोकार है, दुनिया और देश चाहे स्वर्ग में जाए और चाहे नरक में, और जो यह समझ बैठे हैं कि इस प्रकार दुनिया और देश की तरफ से आँखें मूँद लेने पर उनके ऐश और आराम में कोई फर्क भी नहीं पड़ेगा, ऐसे युवक और युवतियों को छोड़कर देश के सभी युवक और युवतियों के लिए अब अपनी जीवनचर्या बदलने और यथाशक्ति समाज और देश के लिए उपयोगी सिद्ध होने का समय आ गया है। जिस युवक या युवती के शरीर में युवावस्था का रक्त संचालित होता है, जिसे देश और बाहर की अवस्था के देखने और समझने का तनिक भी ज्ञान है, जिसे अपने आदमियों की हीन दशा का अनुभव करने में योग्य सहृदयता और प्रेम प्राप्त है, उसको दूर करने की तनिक भी इच्छा है, जिसके मन में यह भावना है कि जीवन केवल खा-पी और आनन्द कर लेने का ही नाम नहीं और ऊँचा और अच्छा जीवन तो आदर्शों के लिए जीने और उनके लिए मरने ही में है, वह युवक और वह युवती इस समय अपनी वर्त्तमान निश्चेष्ट अवस्था से कदापि सन्तुष्ट नहीं रह सकते।

"देश की सेवा का यह पूरक अवसर इन युवकों को अपने पास ज़ोर के साथ बुला रहा है। समय-समय पर अन्य देशों में भी इसी प्रकार के अवसर थे वहाँ के युवक-युवतियों ने उसकी आवाज सुनी और त्याग और सत्यनिष्ठा के साथ उन्होंने अपने तन और मन को सेवा के पथ में अर्पण कर दिया, वहाँ-वहाँ उन्होंने अपने देशभाइयों को ऊपर उठा दिया और अपने को कंचन बना दिया।"

भगतसिंह के शहादत दिवस (23 मार्च) के मौके पर

जेल में भगतसिंह द्वारा लिये गये नोट्स के कुछ नये और दुर्लभ अंश

भारतीय इतिहास की एक दुखद विडम्बना यह भी है कि आज भी इस देश के शिक्षित लोगों का एक बड़ा हिस्सा भगतसिंह को एक महान वीर तो मानता है, पर यह नहीं जानता कि 23 वर्ष का वह युवा एक महान चिन्तक भी था। राजनीतिक आज़ादी मिलने के पचास वर्षों बाद भी सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, नेहरू वाङ्मय से लेकर सभी राष्ट्रपतियों के अनुष्ठानिक भाषणों के विशद्ग्रन्थ तक प्रकाशित होते रहे पर किसी भी सरकार ने भगतसिंह और उनके साथियों के सभी दस्तावेज़ों को अभिलेखागार, पत्र-पत्रिकाओं और व्यक्तिगत संग्रहों से निकालकर छापने की सुध नहीं ली। वे ऐसा करते भी क्यों? भगतसिंह के विचार आज़ाद भारत के नये हुक्मरानों के लिए भी उतने ही ख़तरनाक हैं जितने ख़तरनाक वे अंग्रेज़ों के लिए थे। पिछले ढाई-तीन दशकों में भगतसिंह के विचारों को जनता तक पहुँचाने का काम जनमुक्ति संघर्ष में लगे हुए विभिन्न जनसंगठनों और जनपक्षधर साहित्य के प्रकाशनों ने ही किया है।

भगतसिंह की दुर्लभ जेल नोटबुक का प्रकाशन पिछली शताब्दी के अन्तिम दो दशकों के दौरान की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस बहुमूल्य और इतिहास के विद्वानों तक के लिए अज्ञात दस्तावेज़ का प्रकाशन सबसे पहले भूपेन्द्र हूजा ने 1991 में अपनी पत्रिका 'इण्डियन बुक क्रॉनिकल' में क़िस्तों में शुरू किया और फिर 1994 में इसका (अंग्रेज़ी में) पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ। फिर अप्रैल, 1999 में इसका हिन्दी अनुवाद (अनुवादक विश्वनाथ मिश्र और सम्पादक सत्यम वर्मा) नयी भूमिका और नोटबुक की खोज-विषयक नये तथ्यों सहित लिखे गये दो लम्बे निबन्धों (आलोक रंजन और एल.वी. मित्रोखिन) के साथ तथा नयी सन्दर्भ-टिप्पणियों के साथ, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ से प्रकाशित हुआ। (अब इस नोटबुक का नया हिन्दी संस्करण राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित हुआ है।)

भगतसिंह की जेल नोटबुक मिलने के बाद भगतसिंह के चिन्तक व्यक्तित्व की व्यापकता और गहराई पर और अधिक स्पष्ट रोशनी पड़ी है, उनके वैचारिक विकास की प्रक्रिया समझने में मदद मिली है और यह सच्चाई और अधिक पुष्ट हुई है कि भगतसिंह ने अपने अन्तिम दिनों में, सुव्यवस्थित एवं गहन अध्ययन के बाद बुद्धिसंगत ढंग से मार्क्सवाद को अपना मार्गदर्शक सिद्धान्त बनाया था। एकबारगी तो यह बात अविश्वसनीय-सी लगती है कि क्रान्तिकारी जीवन और जेल की बीहड़ कठिनाइयों में भगतसिंह ने ब्रिटिश सेंसरशिप की तमाम दिक़्क़तों के बावजूद पुस्तकें जुटाकर इतना गहन और व्यापक अध्ययन कर डाला। महज 23 वर्ष की छोटी-सी उम्र में चिन्तन का जो धरातल उन्होंने हासिल कर लिया था, वह उनके युगदृष्टा युगपुरुष होने का ही प्रमाण था। ऐसे महान चिन्तक ही इतिहास की दिशा बदलने और गति तेज़ करने का माद्दा रखते हैं।

अभी हाल ही में भगतसिंह के भांजे प्रो. जगमोहन सिंह के प्रयासों से भगतसिंह द्वारा जेल में लिये गये कुछ और नोट्स प्रकाश में आये हैं। ये नोट्स जेल में भगतसिंह को दी गयी 404 पृष्ठ की नोटबुक के पहले फुलस्केप काग़ज़ों पर लिखे गये हैं। इनमें भगतसिंह ने प्रेम, विवाह, धर्म, दासता, कानून, ग़रीबी, अपराध जैसे उपशीर्षकों के तहत विभिन्न लेखकों की कृतियों से नोट्स लिये हैं। अधिकांश नोट्स अंग्रेज़ी में हैं तथा कुछ उर्दू के शेर भी भगतसिंह ने दर्ज किये हैं। इनमें से कुछ अंश हम यहाँ आह्वान के पाठकों के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं।

सम्पादक

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था : ''साफ़ है कि यह दुनिया दुख और तकलीफ़ से भरी हुई जगह है, एक ऐसी जगह है जहाँ मूर्ख तरक्की करते हैं और अच्छे तथा समझदार लोग नफ़रत और उत्पीड़न के शिकार होते हैं, एक ऐसी जगह है जहाँ स्त्री-पुरुष प्रेम के नाम पर एक-दूसरे को यन्त्रणा देते हैं; जहाँ बच्चे मुसीबत समझे जाते हैं और अभिभावकीय कर्तव्य के नाम पर गुलाम बने रहते हैं और बीमार तथा कमज़ोर दिमाग के लोग न्याय के नाम पर बरसों तक कैद की यन्त्रणा झेलते हैं।''

'जॉन बुल्स अदर आइलैण्ड', बर्नार्ड शॉ

ग़रीबी : ''चूँकि सबसे बड़ी बुराई और सबसे बुरा अपराध ग़रीबी है, इसलिए हमारा पहला फ़र्ज़ है एक ऐसा फ़र्ज़ जिसके लिए अन्य सभी बातों को छोड़ा जा सकता है कि हम ग़रीब न रहें। 'ग़रीब मगर ईमानदार,' 'सम्मानित ग़रीब' जैसे वाक्यांश उतने ही नाक़ाबिले बर्दाश्त हैं और उतने ही अनैतिक हैं जितना यह कहना कि कोई नशे में धुत मगर मिलनसार है, या 'धूर्त मगर अच्छा वक्ता' है या 'शानदार अपराधी' है वगैरह-वगैरह। सुरक्षा, जो कि सभ्य समाज की मुख्य वजह बतायी जाती है, तब तक मौजूद नहीं रह सकती जब तक सबसे भयंकर ख़तरा, ग़रीबी का ख़तरा हरेक के सिर पर लटका हुआ हो, और जब तक हिंसा से हमारा एकमात्र बचाव एक ऐसी पुलिस की मौजूदगी है जिसका असली काम है ग़रीब आदमी को चुपचाप यह देखते रहने के लिए मजबूर करना कि उसके बच्चे भूख से तड़पते हैं जबकि बैठे-ठाले लोग पालतू कुत्तों को पकवान खिलाने पर इतने पैसे उड़ा देते हैं जिनसे ग़रीबों के बच्चों को रोटी-कपड़ा मिल सकता था।''

-'मेजर बारबरा', बर्नार्ड शॉ

क़ैदः ''हम एक आदमी को पकड़ते हैं और जानते-बूझते हुए उसे एक घातक चोट पहुँचाते हैंः यानी वर्षों के लिए जेल में बन्द कर देते हैं। एक आदमी मेरे घर में घुसकर मेरी बीवी के गहने चुरा लेता है, तो मुझसे यह अपेक्षा की जाती है कि मैं उसके जीवन के दस वर्ष चुरा लूँ और इस पूरे समय उसे यन्त्रणा देता रहूँ। लेकिन जिस विचारहीन दुष्टता के साथ हम नैतिक रूप से विकलांग लोगों और उत्साही विद्रोहियों को जेल, कैद-तन्हाई और कोड़ों की सजा सुनाते रहते हैं, वह उस मूर्खतापूर्ण क्षुद्रता के आगे कुछ नहीं है जिसके साथ हम ग़रीबी को बर्दाश्त करते रहते हैं। आज देश की सबसे बड़ी ज़रूरत बेहतर नैतिकता, 'सस्ती रोटी', संयम, स्वतन्त्रता, संस्कृति, पतिता बहनों और भटके हुए भाइयों का उद्धार आदि नहीं है, पवित्र त्रिमूर्ति का स्नेह, प्रेम और भक्ति आज की ज़रूरत नहीं है, बल्कि सबसे ज़रूरी है बुनियादी ज़रूरतें पूरी करने के लिए आवश्यक धन। और जिस बुराई पर चोट करनी है वह न तो पाप, पीड़ा, लोभ, धर्मशाही, राजशाही, इज़ारेदारी, अज्ञान, शराब, युद्ध, बीमारी आदि है और न ही सुधारवादियों द्वारा खड़ा किया गया कोई और बलि का बकरा, बल्कि उस बुराई का नाम है ग़रीबी।

''मगर आज एक सफल बदमाश के साथ बिल्कुल अलग तरह का बर्ताव होता है। न केवल उसे माफ़ कर दिया जाता है, बल्कि उसे आदर्श माना जाता है, सम्मान दिया जाता है, लगभग पूजा जाता है।

''ग़रीबी शहर-दर-शहर अभिशाप की तरह पसरी है, यह भयानक महामारियाँ फैलाती है, अपने आगोश में आने वाले हर व्यक्ति की आत्मा को मार देती है। तुम जिसे अपराध कहते हो वह तो कुछ भी नहीं है...लन्दन में करीब 50 वास्तव में पेशवर अपराधी हैं। लेकिन यहाँ दसियों लाख ग़रीब, दरिद्र, गन्दगी में लिथड़े लोग हैं, जिनके पास न भरपेट खाना है, न तन ढँकने को पूरे कपड़े हैं।

''मैं कंगाल होने के बजाय चोर बनना पसन्द करूँगा। मैं दास बने रहने के बजाय हत्यारा बनना पसन्द करूँगा। मैं इन दोनों में से कोई भी बनना नहीं चाहता, लेकिन अगर आप मुझे चुनने के लिए मजबूर करेंगे तो, कसम से, मैं वह विकल्प चुनूँगा जो अधिक साहसपूर्ण और अधिक नैतिक है। मैं किसी भी अपराध के मुकाबले ग़रीबी और दासता से अधिक नफ़रत करता हूँ।''

'मेजर बारबरा,' बर्नार्ड शॉ

सभ्यता और प्रगति : ''जीवन की कला में मनुष्य कुछ नहीं करता, लेकिन मृत्यु के काम में वह कुदरत को भी पीछे छोड़ देता है, और केमिस्ट्री तथा मशीनरी के द्वारा प्लेग, महामारी और अकाल से बढ़कर हत्याकाण्ड रचता है। आज का किसान वही खाता और पीता है जो दस हज़ार साल पहले के किसान खाते और पीते थे, और जिस घर में वह रहता है उसमें हज़ार साल में उतना बदलाव नहीं आया जितना कि महिलाओं की टोपियों के फैशन चन्द सप्ताह में बदल जाते हैं। लेकिन जब वह मार-काट मचाने निकलता है तो अपने साथ यन्त्रविज्ञान के ऐसे करिश्मे लेकर चलता है जो उँगलियों के इशारे पर बेहिसाब ताक़त पैदा करते हैं और पूर्वजों के भाले, तीर और फुँकनी को बहुत पीछे छोड़ देते हैं।''

'मैन एण्ड सुपरमैन,' बर्नार्ड शॉ

... ...

''राजनीतिक दासता की बेड़ियाँ समय-समय पर उतार फेंकी और तोड़ी जा सकती हैं लेकिन सांस्कृतिक अधीनता की बेड़ियों को तोड़ना अकसर ज़्यादा कठिन होता है।

... ...

नहीं स्वतन्त्रता, उनकी मुस्कानों के आगे हम कभी
समर्पण नहीं करेंगे,
जाओ जाकर कह दो हमलावरों से
एक मिनट भी ज़ंजीरों में बँधकर सोने से
अच्छा है आज़ादी के लिए लड़ते हुए मर जाना

टॉमस मूर, हिन्दू पद पादशाही में उद्धृत

सामयिकी

पैसा दो, ख़बर लो
चौथे खम्भे की ब्रेकिंग न्यूज़

• आशीष

एक बार की बात है। भारत देश में जोकि दुनिया का सबसे बड़ा लोकतन्त्र है, वहाँ की संसद में पैसा दो-सवाल पूछो का मुद्दा प्रकाश में आया। पता चला कि कुछ गणमान्य सांसद महोदय बाक़ायदा पैसा लेकर सवाल पूछने का सौदा कर रहे हैं। अर्थात 'पैसा लाओ-सवाल पाओ'। बात खुल गई, न खुलती तो अच्छी थी। संसद की गरिमा पर संकट के बादल मण्डराने लगे; हालाँकि ऐसी कोई गरिमा थी नहीं। क्योंकि संसद में कई बाहुबलियों का वर्चस्व पहले भी बना रहा है और अब भी है। वे अक्सर अपने शक्ति प्रदर्शन का प्रयोग करते रहते हैं। खैरख्वाह बताते हैं कि सांसदगणों के ये कारनामे लोकतन्त्र की गरिमामयी आभा को कुछ ज़्यादा ही चमका देते हैं। खैर! ये पैसा लेकर सवाल पूछने वाला मामला थोड़ा गम्भीर था। देश भर में हंगामा हुआ। काफ़ी थुक्का-फजीहत हुई। लोकतन्त्र के प्रथम स्तम्भ पर बढ़ते दाग-धब्बों पर 'चिन्तन बैठकें' हुई। अख़बारनवीसों ने बड़े-बड़े लेख लिखे। नेहरू, शास्त्री के जमाने की दुहाई दी गई; गोया उस जमाने में सब 'पाक-साफ' ही रहा हो। नेताओं ने एक-दूसरे की नंगई को ढाँपने में भरपूर नंगई दिखाई। बुद्धिविशारद गणों ने संसद की गिरती साख पर स्यापा पढ़ा। नसीहतें दी, तोहमतें दी, कागद पर कागद कारे हुए। आम जनता ने इस पूरी नौटंकी का जी भर मजा लिया। बात आई और गई। अब ऐसी ही एक मजेदार ख़बर लोकतन्त्र के चौथे स्तम्भ के बारे में सुनने को मिली है। वैसे मीडिया की भाषा में कहा जाए तो ये ख़बर ब्रेकिंग न्यूज़ थी। आइए आप भी सुनिए। यह रपट उसी ख़बर के बारे में है-

इस बार का महाराष्ट्र विधानसभा चुनाव काफ़ी चर्चा में रहा है। यहाँ **पैसा दो-ख़बर लो** का बोलाबाला रहा। प्रिण्ट एवं इलेक्ट्रानिक मीडिया ने 'चुनावी रिपोर्टिंग' के रूप में ग्राहक उम्मीदवारों के सामने बाकायदा 'ऑफ़र' प्रस्तुत किया। वहीं उम्मीदवारों ने भी अपनी छवि को सुधारने हेतु क्षमतानुसार धनवर्षा करने में कतई कोताही नहीं की। धनवर्षा पहले भी होती रही है। मीडिया भी जनराय बनाने में सहयोगी भूमिका निभाती रही है। लेकिन ये सारा कारोबार इतना खुल्लमखुल्ला नहीं होता था। पहले दबे-दबे रूप में यह बात सामने आती थी कि अखबार वाले पैसे लेकर ख़बर छापते हैं। न मिलने पर छुपाते हैं। हूबहू ऐसा ही नहीं होता लेकिन प्रधान बात तो यही है कि जिसका पैसा उसका प्रचार। लेकिन इस बार तो 'ख़बर' लगाने की बोलियाँ लगीं। बिल्कुल मण्डी में खड़े होकर 'ख़बर' नामक माल बेचते मानो कह रहे हों *पैसा दो-ख़बर लो, कई लाख दो-कई पेज लो, करोड़ दो-अखबार लो आदि आदि।*

महाराष्ट्र विधानसभा चुनाव के सम्बन्ध में जाने-माने पत्रकार पी.साईंनाथ की रिपोर्ट बताती है कि पूरे चुनावी काल में लगभग 10 करोड़ रुपये मीडिया की जेब में गये। इतनी बड़ी धनराशि सीधे विज्ञापन के रूप में नहीं आई बल्कि 'समाचार पैकेज' के रूप में प्रचार कार्य हेतु इस्तेमाल की गई। सूत्र बताते हैं कि इस चुनावी 'कवरेज पैकेज' के लिए मीडिया ने कम से कम 15 से 20 लाख रुपये तक की बोली लगाई थी। 'नो मनी-नो न्यूज़' की थ्योरी का सदाचारपूर्वक पालन करते हुए मीडिया उद्योग ने छककर कमाई की, वहीं करोड़पति उम्मीदवार, महँगा से महँगा चुनावी पैकेज लेकर अपनी साफ-सुथरी छवि परोसने में लगे रहे। यथा दाम, तथा काम। दाम के मुताबिक ख़बर लगाकर दाग-धब्बेदार उम्मीदवारों को रिन जैसी सफेदी में चमकाकर ऐसे परोसा गया कि उम्मीदवार ग्राहकों को भी लगे कि उनका पूरा पैसा वसूल हुआ। क्रेता भी खुश, विक्रेता भी खुश ।

इस चुनावी सौदे में अलग-अलग तरीके की ख़बरों के अलग-अलग रेट तय किये गये थे। यथा एक उम्मीदवार के प्रोफाइल के लिए अलग रेट, अपनी उपलब्धियों के लिए अलग रेट। अगर आप पर कोई मामला दर्ज है तो उसके लिए अलग रेट अदा करना होता था। बताते हैं कि महाराष्ट्र विधानसभा चुनाव में जितने विधायक चुने गये उसमें 50 फीसदी से ज़्यादा पर आपराधिक मुकदमे चल रहे हैं। लेकिन पूँजी की ताकत ने ऐसी चमक मारी कि इनके दाग-धब्बे खोज पाना सहज नहीं है। उम्मीदवार ग्राहकों की चरित्रगत महानता की ऐसी मिसालें पेश की गयीं कि उन पर मुस्कराए बग़ैर रह नहीं सकते। मुख्यमन्त्री अशोक चव्हाण की तुलना सम्राट अशोक तक से कर डाली गयी।

ऐसा नहीं है कि 'नो मनी-नो न्यूज़' वाले फार्मूला का प्रयोग महाराष्ट्र विधानसभा चुनाव में ही हुआ है। इस चुनाव के ठीक पहले लोकसभा चुनाव के मौके पर ऐसे क़ारनामे खुलेआम देखने-सुनने को मिले थे। एक नमूना 'हिन्दुस्तान' अख़बार का ही लेते हैं। उ.प्र. के वाराणसी शहर में 16 अप्रैल से ठीक एक दिन पहले 15 अप्रैल को अख़बार का प्रथम पृष्ठ विज्ञापननुमा ख़बर के रूप में प्रस्तुत था। लेकिन प्रस्तुति ऐसी कि यह अंदाज़ा लगा पाना मुश्किल हो जाए कि यह पृष्ठ विज्ञापन के रूप में है। उसमें छपी ख़बर ले देकर एक ही

उम्मीदवार की कसीदाकारी करते दिख रही थी। उन दिनों चुनावी विज्ञापनों को बतौर 'ख़बर' छापने के लिए 'दैनिक जागरण' व 'हिन्दुस्तान' तो अच्छी खासी रकम वसूल रहे थे। मुख्यधारा के दल के अमूमन हर उम्मीदवार से बिना रसीद दस से 20 लाख रुपये ऐंठने की ख़बरें भी रही हैं। जिसके एवज में विज्ञापननुमा एक-एक पृष्ठ के चित्र छापे गये। वहीं समाचार भी मिलने वाले पैसे के मुताबिक बनाए जा रहे थे। यह सबकुछ तब किया जा रहा था जब चुनाव की घोषणा हो चुकी थी आचार संहिता लागू थी। जनता की गाढ़ी कमाई जो सरकारी खजाने में जमा होती रहती है उसका इस्तेमाल ये जनप्रतिनिधि सचमुच अपना चेहरा चमकाने में खर्च करते रहते हैं और करते रहते थे। वहीं ख़बरची उद्योग के मालिकान 'ख़बर' नामक माल की सप्लाई एण्ड डिमाण्ड के नियम से बम्पर मुनाफ़ा पीटने में जुटे रहते हैं। बाज़ार व्यवस्था का यही सच है!

इस प्रकरण पर कई बुद्धिजीवीगण ऐसे प्रलाप कर रहे हैं मानो उन्हें मालूम ही न हो कि 'आदर्श', 'नैतिकता', 'शुचिता' जैसे शब्दों का वर्ग चरित्र होता है। अब विष्णु पराड़कर व गणेशशंकर विद्यार्थी की पत्रकारिता की महज दुहाई देकर कुछ नहीं कर सकते। हमें मालूम होना चाहिए कि उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष के दौरान पनपी राष्ट्रवादी चेतना से लैस तत्कालीन पत्रकारिता की जमीन राष्ट्रीय पूँजी के हितों के अनुरूप थी। यह दौर राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर की तरह नहीं है, जब जनहितों के विपरीत हित रखने वाले सम्पत्तिधारी वर्ग अंग्रेज़ी हुकूमत के ख़िलाफ़ जनता के साथ खड़े हो रहे हों। आज सत्ता उन्हीं के हाथ में है और शोषण की पूरी मशीनरी को वे अपने गोरे पूर्वजों से भी अधिक कुशलता से चला रहे हैं। हकीकत यह है कि जो सामाजिक बँटवारा हमें भौतिक जीवन में देखने को मिलता है वैसा ही कुछ विचारों की दुनिया में प्रत्यक्षमान है। आज सर्वग्रासी मरणासन्न पूँजीवाद का दौर है जो अपनी समस्त सकर्मकता और तार्कितता खो चुका है। कारपोरेटीकरण का बोलाबाला है; उसी की पूँजी मीडिया जगत की धमनियों में प्रवहमान है इसलिये मीडिया जगत के धनलोलुप क्रियाकलापों की अभिव्यक्ति को मौजूदा राजनीतिक व्यवस्था और अर्थतन्त्र की अभिव्यक्ति के रूप में ही देखे जाने की ज़रूरत है। जैसी पूँजी वैसा रूप, जिसकी पूँजी उसका गान।

हिन्दुजा, आईबीएन, टूडे ग्रुप, या शोभना भरतिया ने मीडिया उद्योग में पूँजी निवेश मुनाफ़ा कमाने के लिए किया है। कम ख़र्च ज़्यादा मुनाफ़ा ही इनका मूलमन्त्र है। सूचना-समाचार क्षेत्र आज अधिकाधिक लाभ कमाने वाले सेक्टरों में से एक के रूप में जाना जाता है। आज के दौर में कारपोरेट लोग मीडिया को विज्ञापन देते हैं जिनसे मीडिया की हर साल लगभग 18000 करोड़ रुपयों की कमाई होती है। सरकारी विज्ञापनों से, कागज-कोटे में मिलने वाली कमाई तो है ही। ऐसे में मीडिया जगत की पक्षधरता के बारे में भ्रमित होने की ज़रूरत नहीं हैं।

क्या यह अकारण है कि जब देश के कई हिस्सों में आदिवासियों को उनकी जगह-जमीन से उजाड़ा जाता है तो ख़बर गायब रहती है? क्या यह अकारण है कि दार्जिलिंग से लेकर असम तक के चायबागान के मज़दूर अपने हकों की आवाज उठाते हैं तो ख़बर गायब मिलती है? क्या यह अकारण है कि जब सूरत के डायमण्ड कारीगरों का बर्बर दमन होता है तब ख़बर गायब मिलती है? यही नहीं, कुछ ख़बरों को लगातार गायब करना, कुछ ख़बरों को ऐसे सनसनीखेज तरीके से परोसना कि आदमी और कुछ सोच ही न पाये। इसका भी मतलब है। अगर अपवादस्वरूप कुछ एक ख़बरें जनपक्ष के रूप में सामने आ भी जाती है तो वह भी व्यवस्था के अन्दरूनी खींचतान का ही परिणाम है। मूलतः मीडिया अपने वर्गीय हितों के अनुरूप ही व्यवहार कर रही है और वह यही करेगी। उससे अन्यथा उम्मीद करना या तो महज मासूमियत है या परले दर्जे की मूर्खता। ऐसे में 'नो मनी-नो न्यूज़' जैसे ढेरों कारनामे पूँजीवादी लोकतन्त्र की रियल छवि से हमें परिचित करा रहे हैं तो अच्छा ही है!

विकास के रथ के नीचे भूख से दम तोड़ते बच्चे

• अजीत

मध्यप्रदेश के मुखमन्त्री शिवराज सिंह चौहान सवेर नहा-धोकर माथे पर तिलक लगाकर, चमकता सूट डालकर जब साइकिल पर सवार होकर विधानसभा की ओर कूच करते है तो मीडिया की आँखे फटी की फटी रह जाती है कि ये क्या हो गया है? दुनिया के सबसे बड़े 'लोकतन्त्र' के एक प्रदेश का मुख्यमन्त्री साइकिल पर? गजब की बात भाई! मोटरसाइकिल से, कार से चलने वाले मध्यवर्ग का एक हिस्सा हर्षातिरेक से मुख्यमन्त्री जी के जीवन की सादगी पर लोट-पोट हो जा रहा है। पत्र-पत्रिकाओं के कवर पेज पर और अख़बारों आदि में मध्यप्रदेश की सरकार द्वारा छपवाये जा रहे विज्ञापनों से पता चलता है कि मुख्यमन्त्री शिवराज चौहान के नेतृत्व में स्व0 प0 दीनदयाल अंत्योदय उपचार योजना, दीनदयाल रोज़गार योजना, दीनदयाल चलित उपचार योजना, दीनदयाल अंत्योदय मिशन जैसी परियोजनाएँ चल रही है, जिनके केन्द्र में 'सबसे कमज़ोर' आदमी है। इन विज्ञापनों में विशेष रूप से यह बात दर्ज़ रहती है कि मध्यप्रदेश की सरकार प. दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानवतावाद के सिद्धान्त पर चल रही है। इस तरह विज्ञापनों द्वारा बजाये जा रहे ढोल-नगाड़ों के साथ सरकार के मजूबत हाथ 'कमज़ोर आदमी' तक पहुँच चुके हैं। लेकिन ज्योंही कुछ सरकारी आँकड़ों की ही थाप पड़ी इस ढोल की पोल खुलने में देर नहीं लगी। तो आइये आँकड़ो और तथ्यों की रोशनी में हम इस 'एकात्म मानवतावाद' के फोकस बिन्दु की और उसके नाभिक की सच्चाई को पहचानें।

सरकारी आँकड़ों के मुताबिक अकेले मध्यप्रदेश में ही पिछले चार सालों में (2005-06 से 2008-09) कुपोषण और उससे पैदा होने वाली बीमारियों के कारण 1 लाख 22 हजार मासूम बच्चों की मौत हो चुकी है और इस मामले में मध्यप्रदेश सारे राज्यों को पछाड़कर नम्बर एक की कुर्सी पर बैठा है।

इन चार सालों के दौरान हुई इन मौतों के वार्षिक कालानुक्रम में आँकड़े तालिका-1 और कुछ जिलेवार आँकड़े तालिका -2 में दिये गये हैं।

तालिका-1

वर्ष	मौतों की संख्या
2005-06	30563
2006-07	32188
2007-08	30391
2008-09	29274

तालिका-2

जिला	मौतों की संख्या
सतना	7257
छतरपुर	6542
बालाघाट	5666
शिवपुरी	4866
शहडोल	4313
सीधी	4137
गुना	4116
रीवा	4049
बैतूल	3823

ये मौतें मप्र के 50 मे से केवल 48 जिलों में ही दर्ज की गई हैं। सिंगरौली और आदिवासी बहुल अलीराजपुर जिलों के आँकड़े तो इसमें शामिल ही नहीं है केवल अक्टूबर-दिसम्बर 09 के दौरान ही झबुआं गाँव में 43 और मदरानी गाँव में 30 मौतें हो चुकी है। सादगीप्रिय मुख्यमन्त्री शिवराज सिंह चौहान के मन्त्रिमण्डल के लोकस्वास्थ्य मन्त्री अनूप मिश्रा ने विधानसभा में यह माना कि राज्य के 60 फीसदी बच्चे कुपोषण से ग्रस्त है। वहीं जब देशस्तर पर सादगी का झण्डा उठानेवाली कांग्रेस पार्टी के नेता महेन्द्र सिंह कालूखेड़ा ने स्वास्थ्य मन्त्री जी से पूछा कि स्वास्थ्य मापदण्डों के हिसाब से कितने बच्चे गम्भीर कुपोषण का शिकार हैं तो मन्त्री महोदय सादगीपूर्ण तरीके से इस सवाल को टाल गए। लेकिन तथ्य और आँकड़े बताते हैं कि 12 लाख बच्चे गम्भीर रूप से कुपोषण का शिकार हैं जिनके लिए मात्र 200 पोषण-पुनर्वास केन्द्र अपनी सरकारी गति के अनुरूप गतिमान हैं। आँकड़ों के अनुसार 2008-09 में मध्यप्रदेश में जन्म के समय शिशु मृत्युदर प्रति हजार पर 70 थी। ये कुछ आँकड़े हैं जो अपने आप में सबकुछ चीख-चीखकर बता रहे हैं। ये आँकड़े साबित करते हैं कि आम आदमी, कमज़ोर-ग़रीब आदमी 'एकात्म मानवतावाद' के केन्द्र की तो बात क्या करें, उसके पूरे वृत्त से ही ग़ायब है।

लेकिन भूख का ये ताण्डव, जो लाखों मासूम बच्चों की मौत पर खेला जा रहा है जिसको देखकर शैतान की रूह भी काँप उठे, महज मध्यप्रदेश की कहानी नहीं है, वरन पूरे देश का हाल यही है जिसका बुनियादी कारण ये पूरा आर्थिक -सामाजिक ढाँचा है। इस बात को समझने से पहले देश में भूख की समस्या पर एक निगाह डाल लें।

विश्व खाद्य कार्यक्रम के आकलन के मुताबिक दुनियाभर में भूख से शिकार 1 अरब से अधिक आबादी में से लगभग एक तिहाई (35 करोड़) की आबादी भारत की है। भारत की भूख और कुपोषण सम्बन्धी समस्याओं पर संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट बताती है कि

- भारत मे पैदा होने वाले 30% बच्चों का वजन सामान्य से कम होता है।
- हर साल 20 लाख बच्चे कुपोषण से मर जाते हैं।
- भारत में कुल बच्चों और महिलाओं की लगभग आधी संख्या गम्भीर और चिरकालिक कुपोषण और अल्प पोषण का शिकार है।
- लगभग 47% बच्चों का वज़न कम है और 46% का विकास बाधित हो गया है। भारत में यह संख्या सबसहारा अफ्रीका के निर्धनतम देशों से भी ज़्यादा है।
- 30% निर्धनतम आबादी 1700 किलो कैलोरी से कम भोजन ग्रहण करती है, जबकि अन्तरराष्ट्रीय न्यूनतम मानक 2100 किलो कैलोरी है। यह तब, जबकि वे अपनी कमाई का 70% भोजन पर ही खर्च करते हैं।

इस प्रकार तमाम आँकड़ों के माध्यम से ये बात साफ़ होती है कि चाहे मध्य प्रदेश हो या देश-स्तर का मामला, फ़ासीवादी हिन्दुत्व विचाराधारा की वाहक भाजपा की मध्यप्रदेश सरकार हो या तथाकथित धर्मनिरपेक्ष, मध्यमार्गी कांग्रेस की केन्द्र सरकार हो, भूख का यह ताण्डव हर जगह क़ायम है लेकिन जाँच-पड़ताल करें तो मध्यप्रदेश की भाजपा सरकार का 'एकात्म मानवतावाद' और कांग्रेस का 'समावेशी विकास' गलबहियाँ डाले हुए दिखाई देते हैं।

तो फिर म.प्र की सरकार या केन्द्र की सरकार के बड़े-बड़े दावों का क्या किया जाए? दरअसल उनके इन दावों की सच्चाई एक हद तक सही है। विकास, तरक्की समृद्धि की बातें सही है लेकिन यह पूरी विकास की डबल रोटी केवल 15-20% लोगों के लिए है। देश का पूरा पूँजीपति वर्ग, नेता और मध्यवर्ग का ऊपर का एक हिस्सा आज विकास के इस तालाब में गोते लगा रहा है, जिसको इस देश की मेहनतकश जनता के, आम-ग़रीब जनता के आँसुओं से उनके मासूम बच्चों के खून से भरा गया है। और इसमें 'एकात्म मानवतावाद' और 'समावेशी विकास' नामक दोनों तैराक गोते लगा रहे हैं।

आर्थिक उदारीकरण-निजीकरण की प्रक्रिया को कांग्रेस सरकार ने 1990 के बाद जोर-शोर से लागू किया और जनता के दम पर खड़े पब्लिक सेक्टर को पूँजीपतियों के हाथों बेचना

शुरू किया। ज्योंही भाजपा की सरकार केन्द्र में आई उसने भी इन्ही उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों को जबर्दस्त त्वरण प्रदान किया और यहाँ तक कि अरुण शौरी के नेतृत्व में विनिवेश मन्त्रालय का गठन कर दिया और सरकार सभी पब्लिक सेक्टर से अपने हाथ खीचने लगी और आज भी यह प्रक्रिया जारी है। एक-एक करके सारी चीजों को औने-पौने दामों पर पूँजीपतियों को बेचा जा रहा है। आज सरकार लगातार खाद्य वितरण प्रणाली से अपने हाथ पीछे खींच रही है। अकेले दिल्ली में ही पिछले 6 वर्षों के दौरान लगभग 664 राशन की दुकानें बन्द कर दी गयी हैं। भूख से होती मौतों का मतलब यह नहीं कि अनाज की कमी है। उत्पादन के आँकड़े बताते हैं कि अनाज का उत्पादन ज़रूरत से भी ज़्यादा है। लेकिन अनाज को गोदामों में सड़ा दिया जाता है, समुद्र में फेंक दिया जाता है या स्वीडन, डेनमार्क, नार्वे जैसे देशों में वहाँ के मवेशियों के खाने के लिए भिजवा दिया जाता है। ताकि लाल-महल, शक्तिभोग, आशीर्वाद आदि कारपोरेट घरानों का मुनाफ़ा कम ना हो जाए और ऐसा उनके तलवे चाटने वाली ये सरकार करती हैं। भले ही लाखों मासूम इस देश के मेहनतकशों और ग़रीबों के बच्चे भूख से दम तोड़ दें। ये मौते ही 8% विकास दर का आधार हैं। देश के मेहनतकश मज़दूरों के शोषण की बदौलत ही पूँजीपतियों के ऐयाशी के टापू खड़े किये जा रहे हैं। इन्ही की साँसों को खींचकर 'एकात्म मानवतावाद' और 'समावेशी विकास' के गुब्बारों में हवा भरी जा रही है। 20 रुपये प्रतिदिन की आय पर जीने वाली 84 करोड़ आबादी के बीच मुख्यमन्त्री यदि साइकिल पर सवारी करता है तो ये मात्र सादगी का ढोंग है ।

'आतंकवाद' को देश के लिए सबसे बड़ा खतरा बताने वाले प्रधानमन्त्री से क्या यह बात छुपी होगी कि आतंकवाद से बड़ा ख़तरा भूख बना हुआ है? लेकिन सच बात तो यह है कि इन सरकारों का एकात्म मानवतावाद और आम आदमी के शोशे के केन्द्र में इस देश के चन्द पूँजीपति और धनवानों की जमात है और ये सदा उन्हीं के तलवे चाटते रहते हैं। लेकिन जनता अपने हक के लिए ज़रूर आवाज उठायेगी और उनको हासिल करेगी; इस खूनी पूँजीवादी व्यवस्था को खत्म करके और उसके इन पैरोकारों का जड़मूल नाश करेगी; क्योंकि उसे इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता है कि उसको लूटने वाले खसोटने वाले साइकिल से चलते हैं या छकड़ा गाड़ी से।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली : आम जनता का छिनता बुनियादी हक

• गौरव

अभी हाल में संविधान के 60 वर्ष पूरे हुए हैं। मौजूदा सरकार ने नाच-गाकर-तालियाँ पीटकर लोगों को अहसास करवाया की जश्न का मौका है। पर अफसोस! आम आबादी जो बाज़ार की अन्धी ताक़तों का कोड़ा अपनी पीठ पर खा रही है, जिसे रोज़ाना महँगाई का बुलडोज़र कुचल रहा है, वह कैसे इस झूठ पर खुशी मनाए की संविधान आम मेहनतकश आबादी के लिए प्रासंगिक है। संविधान और संवैधानिक सरकारों ने अब तक जो आम जनता को दिया है उसे हर कोई जानता है। इसे उसकी कार्यप्रणाली से बखूबी जाना जा सकता है।

शुरुआत में सरकार ने बाज़ार से गेहूँ खरीदकर राशन डीलरों के माध्यम से कम दर पर राशन लोगों तक पहुँचाने का जिम्मा उठाया था उसे वह सोची-समझी रणनीति के तहत धीरे-धीरे पूँजीपतियों की सेवा में प्रस्तुत कर रही है। वह पिल्सबरी, आशीर्वाद, शक्तिभोग जैसी बड़ी कम्पनियों को राहत देकर (बिजली, पानी, जमीन मुहैया कराने से लेकर करों में राहत आदि सहित) मुनाफ़ा निचोड़ने की छूट दे रही है। दूसरी तरफ सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पी.डी.एस.) को भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, अफसरशाही, कालाबाज़ारी से मुक्त करने की बजाए पी.डी.एस को धीरे-धीरे ख़त्म करती जा रही है।

सरकार पी.डी.एस के तहत जो राशन खरीदती है उसे साब्सिडी पर डीलरों को देती है। डीलरों को गेहूँ ग़रीबी रेखा से नीचे रहने वाले (बी.पी.एल) कार्ड धारकों को 4.65 रू प्रति किलो की दर से बेचने का आदेश प्राप्त है। इसी तरह चावल उन्हें 6.09 रु प्रति किलो की दर से मिलता है तथा उसे 6.15 रु प्रति किलो की दर से कार्डधारकों का बाँटना है। ऐसा ही अन्त्योदय अन्न योजना के तहत निपट ग़रीबी मे रह रहे परिवारों के लिए, दो रुपया प्रति किलो की दर से गेहूँ और तीन रुपया प्रति किलो की दर से चावल समेत 35 किलो राशन मुहैया होना चाहिए। इसमें डीलर की लाभ दर लगभग 1.5 फीसदी रहती है। यहाँ तक सब ठीक ठाक है।

परजीविता क्रम से सबसे नीचे का मोहरा

डीलर को गोदाम से दुकान तक राशन ले जाने का भाड़ा स्वयं ही वहन करना होता है। मान लीजिए प्रति बोरे पर औसत माल भाड़ा खर्च 10 रु आता है तो ऐसे में डीलर को प्रति बोरा बेचने पर लगभग 8.50 रु का घाटा होगा। डीलर को हर महीने सप्लाई इन्स्पेक्टर को कम से कम 500 रु देना पड़ता है। ग्राम प्रधान से लेकर बी.डीओ तक को खुश रखना पड़ता है। ग्राम प्रधान ही राशन वितरण की पुष्टि करता है। आइये ज़रा और तथ्यों की रोशनी में इसकी पड़ताल करें।

● प्रख्यात अर्थशास्त्री ज्यां ड्रेज़ ने अपने सर्वेक्षण में पाया कि डीलर चोर बाज़ारी न करे तो उसे प्रति बोरा यानी प्रति क्विण्टल 58 रुपये का घाटा उठाना पड़ेगा। लगभग सभी डीलरों ने स्वीकार किया कि 'चोर-बाज़ारी' उनकी मजबूरी है।

● केरल में सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सफल माना जाता है। लेकिन अर्थशास्त्री मूइज ने अपने सर्वेक्षण में पाया कि वहाँ भी चावल 10 फीसदी और गेहूँ 40 फीसदी काले बाज़ार में चली जाती है।

जनता के लिए उपलब्ध राशन की मात्रा एक घिनौना मज़ाक

अर्थशास्त्री कृष्ण और सुब्बाराव ने अपने अध्ययन में पाया कि ग्रामीण भारत में पी.डी.एस. के माध्यम से प्रति व्यक्ति गेहूँ उपलब्धता 0.24 किलोग्राम प्रति माह थी और चावल की उपलब्धता 0.62 किलोग्राम।

● मधुर स्वामीनाथन ने अपने अध्ययन में पाया कि केरल (जहाँ यह प्रणाली सब से अधिक सफल मानी जाती है) में प्रति व्यक्ति राशन की उपलब्धता 5 किलो प्रति माह थी।

● उत्तर प्रदेश और बिहार में ग़रीबी रेखा के नीचे रहने वालों की संख्या सबसे अधिक है इन राज्यों में प्रति व्यक्ति मासिक राशन उपलब्धता एक किलोग्राम से भी कम थी।

● राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अध्ययन में भी यह जाहिर हुआ कि ग्रामीण क्षेत्र में इस प्रणाली के अन्तर्गत हर महीने प्रति व्यक्ति एक किलो राशन उपलब्ध होता है।

2003 में पूर्वी उत्तर प्रदेश में इस प्रणाली के अन्तर्गत लाभार्थियों के एक सर्वेक्षण में पाया गया कि औसतन उन्हें प्रतिमाह दो किलो खाद्यान्न हासिल हुआ। सोनभद्र जनपद के एक जनजाति बहुल प्रखण्ड के सर्वे में पाया गया कि सबसे ग़रीब लोग इस प्रणाली से एकमुश्त अनाज खरीदने में असमर्थ थे। निर्धनता के कारण कार्ड होते हुए भी वे चावल के महीन टुकड़ों को खुद्दी बाज़ार से खरीदते थे क्योंकि वह इस प्रणाली के अन्तर्गत मिलने वाले चावल से सस्ता था। एक अन्य अध्ययन से पता चला कि उत्तर प्रदेश में भूख से मरने वाले लोगों के पास राशनकार्ड तो था लेकिन राशन खरीदने के लिए उनके पास पैसे नहीं थे (ईपीडब्ल्यू 2002)।

सरकारी रिपोर्ट बताती है कि गाज़ियाबाद (उप्र) जिले तथा उसे सटे अन्य नगरों के 10 लाख 15 हजार 432 कार्डधारकों मे से 50 फीसदी लोगों को ही गेहूँ मिल रहा है। शासनादेश कुछ भी आए राशन डीलर अपने तरीके से राशन बाँट रहे हैं। जबकि हर साल न जाने कितनी दुकानों का लाईसेंस निलम्बित होता है, कितनों का रद्द होता है और कुछ को तो जेल की हवा भी खानी पड़ती है। राशन वितरण का ढर्रा जस का तस है। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार जनवरी-फरवरी में वितरण हेतु शासन स्तर से 64 हजार 300 क्विण्टल गेहूँ का आवण्टन किया गया। जबकि मार्च के लिए 10 हजार 890 क्विण्टल गेहूँ आया। पता चला कि अभी जनवरी माह के कोटे का गेहूँ बँटा तक नहीं है। स्थानीय शासन के अफ़सर तक मान रहे हैं कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली में अनियमितताएँ बढ़ी हैं। कार्डधारकों को 5 किलो देकर 10 किलो की राशनकार्ड में एण्ट्री हो रही है। विवरणों के आधार पर प्रति व्यक्ति गेहूँ का वितरण एक किलोग्राम बैठता है। तत्कालीन आपूर्ति मन्त्री शान्ता कुमार ने लोकसभा में एक सवाल के जवाब में स्वीकार किया कि उनके विभाग ने इस सम्बन्ध में जो सर्वेक्षण कराया उसके अनुसार कुल गेहूँ का 36 फीसदी, चावल का 31 फीसदी और चीनी का एक तिहाई काला बाज़ार की भेंट चढ़ जाता है। इसी मन्त्रालय ने हाल ही में प्रकाशित अपनी रपट में यह रहस्योद्घाटन किया है कि पिछले तीन सालों (2003 से 2006) में पी.डी.एस का 31,585 करोड़ रु का खाद्यान्न काले बाज़ार में चला गया है। खैर, सरकार जानती है कि डीलर घाटे का सौदा नहीं करेगे और बिना चोरबाज़ारी किए कोई भी डीलर मुनाफ़ा नहीं कमा सकता। चोरबाज़ारी करने के लिए विभागीय अधिकारियों और कर्मचारियों को लम्बी रिश्वत मिलती है इसलिए यह योजना बदस्तूर जारी रहती है।

यह तो अब सर्वविदित है कि ये संसदीय वामपन्थी पार्टियाँ भले ही कितना भी अपने को दूसरी चुनावबाज पार्टियों से अलग दिखलाने की कोशिश करें करनी में ये वही करती हैं जो पूँजीपतियों के लिए लाभकारी होता है। इसे राशन आन्दोलन के उदाहरण के जरिये समझा जा सकता है। मज़दूरों-ग़रीबों की पार्टी की सरकार के खिलाफ पश्चिम बंगाल की मज़दूर-ग़रीब जनता ने राशन न मिलने पर राशन आन्दोलन कर दिया था। सितम्बर 2007 के मध्य से प.बंगाल के दक्षिणी जिलों में चल रहा राशन आन्दोलन उत्तरी बंगाल तक फैल चुका था। दर्जनों राशन दुकानों पर तोड़-फोड़, आगजनी, लूटपाट करके जनता ने अपने दबे हुए गुस्से का इजहार किया। आक्रोशित जनता पर पुलिस ने करीब आधा दर्जन जगहों पर गोलीबारी की थी। जनाक्रोश का ऐसा उबाल पिछले चालीस सालों में बंगाल के गाँवों में नहीं देखा गया था। ये 1966-67 के बंगाल के दिनों की याद दिलाते थे जब अनाज के लिए दंगे हुए थे। दिलचस्प बात है कि यह आक्रोश भड़का ही माकपा द्वारा 16 सितम्बर, 07 को बाकुण्डा में बुलाई गयी 'साम्राज्यवाद विरोधी सभा' से। माकपा नेताओं ने मंच से जब भारत अमरीका परमाणु करार के ख़तरों के बारे में बोलना शुरू किया, तो लोग मंच पर चढ़ गये। एक शख्स ने माइक छीनकर कहाः अब हम तुम्हें सबक सिखायेंगे। तुम हमें चावल और गेहूँ तो दे नहीं सकते। इसके बदले तुम हमें ऐसी बातें सुना रहे हो जो हमारी समझ से परे हैं। हमे परमाणु करार की बातें समझ में नहीं आती। (टेलीग्राफ 17 सितं. 07)। राशन के लिए लोगों का तोड़फोड़ पर उतर आना यूँ ही अचानक नहीं था।

आम आबादी से उनका राशन छीनकर ये लोग अपनी तिजोरियों को भरते रहते हैं। यह बात तमाम सर्वेक्षणों में साबित हुई है। ग्राम प्रधान और बीडीओ राशनकार्ड बनाते हैं जिसमें भाई-भतीजावाद, घूसखोरी, भ्रष्टाचार जमकर चलता है। भारत

सरकार स्वयं यह बात कबूल करती है। मप्र में 58.48 फीसदी बीपीएल कार्ड का राशन बोगस है और अपात्र व्यक्तियों द्वारा उपयोग किया जा रहा है। इससे सरकार को प्रति वर्ष 600 करोड़ का नुकसान उठाना पड़ रहा है। गोण्डा (उ.प्र.) जनपद के सांख्यिकी विभाग की ओर से जारी आँकड़ों के मुताबिक 2008 में गोण्डा में कुल परिवारों की संख्या पाँच लाख से थोड़ा अधिक होने का अनुमान है। जबकि इस समय जनपद में बने राशन कार्डों की संख्या 5.94 लाख है, विभागीय अधिकारी यह बता पाने की स्थिति में नहीं हैं कि परिवारों की अनुमानित संख्या से करीब एक लाख ज़्यादा राशन कार्ड कैसे बन गए?(जनसत्ता 24 फरवरी 2010.) एक अध्ययन से पता चला है कि तमाम बड़े राज्यों में 40 फीसदी से ज़्यादा घरों में गलत कार्ड बनाए गए हैं। ग़रीबों का अनाज खुले बाज़ार में बेचा जाता है। सिर्फ़ 42 फीसदी अनाज सही हाथों में पहुँचता है। इस तरह पीडीएस पर खर्च किए गए 4 रुपये में से महज 1 रुपये ग़रीबों तक पहुँच पाता है।(दैनिक भास्कर 11 मार्च, 2010) दिसं. 2009 में खाद्य एवं नागरिक आपूर्ति राज्यमन्त्री ने बताया की 2006 के बाद अकेले पं. बंगाल में 53 लाख फर्जी राशन कार्ड पकड़े जा चुके थे। सबसे कम उड़ीसा में फर्जी कार्ड पकड़े गये जो 2.50 लाख के आस-पास थे। केन्द्र सरकार का सब्सिडी बिल 2009 में 1.11 लाख करोड़ था लेकिन फर्जी राशनकार्ड के भारी आँकड़े बताते है कि यह सब्सिडी वास्तविक हकदारों तक तो पहुँचती ही नहीं।(11 मार्च 2010, दैनिक भास्कर)

इस मामले में राजधानी भी किसी से कम नहीं। राष्ट्रमण्डल खेल दूर नहीं है। युद्धस्तर पर राजधानी को सजाया-सँवारा जा रहा है। लेकिन ग़रीबों, मज़दूरों को क्या मिला रहा है? ग़रीबों-मज़दूरों के लिए 2001 में दिल्ली में 3165 राशन की दुकानें थी जो 2007 में घटकर 2501 रह गयी। इन राशन की दुकानों से भी 53 फीसदी चावल और 25 फीसदी चीनी चोरी हो जाती है और उसे अफसर-मन्त्री निगल जाते है। भोजन के बुनियादी अधिकार पर सुप्रीम कोर्ट में 2001 से चल रहे मामलों मे कोर्ट द्वारा अपने पूर्व न्यायधीश डी.पी. वाधवा की अध्यक्षता में गठित समिति ने अदालत में 31 अगस्त, 07 को पेश अपनी रपट में कहा है कि सरकारी राशन प्रणाली का पूरा ढाँचा 'अक्षम और भ्रष्ट है। बड़े पैमाने पर अनाज की काला बाज़ारी हो रही है। ग़रीब लोगों को कभी पर्याप्त और स्तरीय अनाज नहीं मिल पाता।' समिति ने राजधानी दिल्ली की 32 राशन दुकानों और छः में से तीन गोदामों का मुआयना किया। सबमें 'बड़े पैमाने पर धाँधलियाँ पायी गयीं, और यह बात सामने आई कि भ्रष्ट डीलरों, व्यापारियों, ट्रांसपोर्टरों का गठजोड़ काम कर रहा है। जिसे राजनीतिक छत्र-छाया हासिल है।' न्यायाधीश वाधवा ने कहा कि कोई भी गोदाम या दुकान ऐसी नहीं मिली जहाँ गड़बड़ी नहीं हो। जब देश की राजधानी का ये हाल है तो गाँव-देहात में क्या हालत होगी। (फिलहाल, नवम्बर '07')

खाद्यान्न का कुप्रबन्धः एक सोची समझी योजना

खाद्यान्न के भण्डारण पर ही अधिकारियों द्वारा यह दिखाया जाता है कि सालाना 500 करोड़ का खाद्यान्न नष्ट हो जाता है, जो वास्तव में ब्लैक कर दिया जाता है। प्रधानमन्त्री ने राज्यों के मुख्य सचिवों के सम्मेलन में अनाजों का उत्पादन कम होने पर चिन्ता प्रकट की। लेकिन राज्यों में अनाज के रखरखाव में ही इतना कुप्रबन्धन है कि अकेले राजस्थान में ही 16.7 लाख टन खाद्यान्न खराब हो जाता है। इतने खाद्यान्न से राज्य के 1.83 करोड़ लोगों का सालभर तक पेट भर सकता है।(दैनिक भास्कर) जिन राज्यों में चावल की माँग नहीं है, वहाँ के गोदामों में चावल पड़ा सड़ता रहता है। वहाँ निगम के गोदामों में गेहूँ है। मेरठ (उ.प्र.) की मिसाल लीजिए। परतापुर स्थित भारतीय खाद्य निगम के गोदामों में 68 हजार क्विण्टल चावल पिछले पाँच साल से पड़ा है। सेना ने भी उसे लेने से मना कर दिया है। करोड़ों रुपये का यह चावल लगातार खराब हो रहा है पर निगम के अफसरों को उसके इस्तेमाल की कोई चिन्ता नहीं है। आए दिन देश के विभिन्न हिस्सों से ख़बरें आती हैं कि निगम के गोदामों में सड़ रहे अनाज से चूहे मोटे होते जा रहे है।(जनसत्ता 7 फरवरी 2010) देश में पर्याप्त केयर हाऊस न होने के कारण हर साल 30 फीसदी से ज़्यादा फसल नष्ट हो जाती है (दैनिक भास्कर) जिस तेज रफ़्तार से भारत के सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि दर्ज हो रही है, उसी रफ़्तार से सार्वजनिक वितरण प्रणाली में आम ग़रीब आबादी के लिए आवण्टित अनाजों की लूट बढ़ती जा रही है। चावल और गेहूँ की ऐसी लूट साल 2004-05 में 9918.17 करोड़ रु थी, 2005-06 में 10,330.28 करोड़ रु और 06-07 में 11336.98 करोड़ रु। इन तीन सालों में ग़रीबों-मज़दूरों के लिए आवण्टित 31586 करोड़ रु के गेहूँ और चावल राशन डीलरों, नौकरशाहों, और राजनेताओं ने लूट लिए। यह लूट स्वास्थ्य के दो साल के सरकारी खर्च, और शिक्षा पर साल भर के खर्च के बराबर है। यह बात केन्द्र सरकार द्वारा तैयार एक अध्ययन के आँकड़े बताते हैं। अध्ययन में कहा गया है कि हर साल पी.डी.एस. से 53.2 फीसदी गेहूँ और 39 फीसदी चावल काला बाज़ार चला जाता है(फिलहाल, नवम्बर-07) पी.डी.एस. के लिए केन्द्र राज्य सरकारों को दोषी ठहराता है और राज्य सरकारें केन्द्र को। वैसे ही जैसे दो शरारती बच्चे एक दूसरे पर दोष लगाते है। असल बात तो आम मेहनतकश जनता के जीवन की बुनियादी सुरक्षा की गारण्टी है। संविधान और सरकार जब मुट्ठी भर लोगों को लाभ पहुँचाने के एवज में बहुसंख्यक अवाम की ज़िन्दगी से खिलवाड़ करे तो हमें आगे आकर एक ऐसा रास्ता तो बनाना ही होगा जो बहुसंख्यक आबादी को एक गरिमापूर्ण, सम्मानजनक जीवन दे सके। यह एक ही बुनियादी प्रश्न जो इस मौजूदा व्यवस्था की पोल खोल कर रख देता है, वरना प्रश्न और भी हैं, और उनके जवाब हमें ही ढूँढ़ने हैं।

प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह की लफ़्फ़ाज़ी

• प्रेमप्रकाश

देश के अर्थशास्त्री प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह 27 दिसम्बर 2009 को भुवनेश्वर में 'भारतीय आर्थिक संघ' के 92वें सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए ऐसा दावा कर बैठे जिसे सुनकर देश का हर ग़रीब नागरिक दंग रह गया। लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में शिक्षण प्राप्त और दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में शिक्षण देने वाले डा. सिंह ने कहा कि 1991 में उनके द्वारा नयी आर्थिक नीतियों के श्री गणेश के बाद से देश में ग़रीबी रेखा के नीचे रहने वाले लोगों की संख्या में कमी आयी है! उन्होंने कहा कि अगर हम आर्थिक सुधारों की रफ़्तार घटायेंगे तो अर्थव्यवस्था उस रफ़्तार से विकास नहीं कर पायेगी कि पर्याप्त रोज़गार पैदा हो सके!

डा. मनमोहन सिंह का यह बयान कि देश में ग़रीबी रेखा के नीचे रहने वाले लोगों की संख्या में कमी आयी है, का आधार पहले से मज़ाकिया ग़रीबी रेखा मानक को आँकड़ों की बाज़ीगरी से और मज़ाकिया बना देने और फिर उसके आधार पर ग़रीबों की संख्या का आकलन है। स्थापित ग़रीबी रेखा के अनुसार गाँवों में 2400 कैलोरी और शहरों और में 2100 कैलारी प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन का उपभोग स्तर किसी व्यक्ति को ग़रीबी रेखा के ऊपर कर देता है। सरकार द्वारा ग़रीबों के साथ धोखाधड़ी और लूट में आँकड़ों का खेल कोई नयी बात नहीं है लेकिन अब ख़बर यह भी है कि कैलोरी उपभोग स्तर के उपरोक्त मानक को घटाकर ग्रामीण क्षेत्रों में 1890 और शहरी क्षेत्रों में 1875 कैलोरी प्रति व्यक्ति करने की योजना है। अर्थात, अब कागजी विकास के इस मॉडल में ग़रीबों की घटती संख्या दिखाने के लिए पूँजी के चाकरों को आँकड़ों की बाज़ीगरी करने की भी ज़रूरत नहीं पड़ेगी। यहाँ ग़ौर करने वाली बात यह है कि जब 2200/2400 कैलोरी के ग़रीबी रेखा मानक को तय किया गया था तब विशेषज्ञों ने यह माना था कि शिक्षा, चिकित्सा और सस्ते आवास को उपलब्ध कराने का काम राज्य का है। इसलिए इन कारकों को ग़रीबी रेखा की गणना में शामिल नहीं किया गया था। लेकिन नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के साथ ही यह स्पष्ट हो गया है कि राज्य कारपोरेटों की मन्दी को दूर करने का ख़र्च उठाने को तो तैयार है लेकिन ग़रीबों के लिए सस्ती खाद्य सामग्री, आवास, शिक्षा, चिकित्सा का ख़र्च उठाने का बिल्कुल तैयार नहीं है! यही कारण है कि हालिया बजट में 11 लाख करोड़ रुपये में से 5 लाख करोड़ रुपयों का तोहफ़ा विभिन्न प्रकार की छूटों के रूप में कारपोरेट घरानों और उच्चवर्गीय करदाताओं को दिया गया है। आज अगर इन सभी ख़र्चों को ग़रीबी रेखा की गणना में जोड़ा जाय तो वह लगभग साढ़े नौ हज़ार रुपये मासिक बैठेगी। लेकिन आज यह लगभग साढ़े चार सौ रुपये महीना से भी कम है।

सरकार की नवउदारवादी आर्थिक नीतियाँ और उसकी अतिउदारवादी ग़रीबी रेखा!

1991 में लागू हुई जिन आर्थिक नीतियों द्वारा विकास की चकाचौंध की मणि-माला मनमोहन सिंह जी जप रहे हैं उसका मूलमन्त्र था 'निजीकरण'। अर्थात सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को औने-पौने दामों में पूँजीपतियों के हाथों बेचना जिन्हें जनता के पैसे से खड़ा किया गया था; साथ ही शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, बिजली जैसी बुनियादी सुविधाओं को निजी हाथों में सौंपकर मुनाफ़ा कमाने के धन्धों में तब्दील करना; और दूसरी तरफ मज़दूरों को प्राप्त थोड़े से श्रम अधिकारों को छीन लेना जो वैसे भी देश में कहीं लागू नहीं होते। इन नीतियों का अर्थ पूँजीपतियों के लिए पूरे आर्थिक और प्रशासनिक ढाँचे को उदार बनाना (उदारीकरण) और मेहनतकशों के रहे-सहे अधिकारों को छीनकर बाज़ार की अन्धी शक्तियों के अधीन कर देना (कठोरीकरण) था! इस उदारीकरण और निजीकरण के लिए तर्क यह दिया गया था कि जब समाज के उच्च वर्ग में समृद्धि और ऐश्वर्य आयेगा तो वह छन-छन कर नीचे तक जाएगा (ट्रिकल डाउन थियरी)। लेकिन नवउदारवादी नीतियों के बीस वर्ष के अनुभवों ने दिखला दिया है कि पूँजीवादी व्यवस्था में अगर ऊपर से ट्रिकल डाउन करके नीचे तक कुछ जाता है तो वह अमीरज़ादों का संकट और मन्दी है, समृद्धि नहीं। समृद्धि तो शिखरों पर ही केन्द्रित होती रहती है, रिस-रिसकर जो नीचे जाता है वह है इस समृद्धि का वज़न, जिसे उठाते-उठाते ग़रीब जनता की कमर टूट जाती है।

सरकार द्वारा बनायी गयी अर्जुन सेनगुप्ता समिति की रिपोर्ट बताती है कि आज देश में 77 फ़ीसदी आबादी यानी करीब 84 करोड़ लोग 20 रुपये या उससे कम की प्रतिदिन की आय पर गुज़र कर रहे हैं। इसमें से 27 करोड़ लोग 11 रुपये प्रतिदिन की आय पर जी रहे हैं। एक स्वास्थ्य संस्था की रिपोर्ट के अनुसार देश में 46 फ़ीसदी बच्चे कुपोषण के शिकार है और 55 फ़ीसदी महिलाओं का वजन अस्वस्थ होने की हद तक कम है। देश में 18 करोड़ लोग बेघर है और 18 करोड़ लोग झुग्गियों में रह रहे हैं। इन सब आँकड़ों के बावजूद कोई कहे कि ग़रीबी घट रही है तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि वह हमें मूर्ख बना रहा है। प्रधानमन्त्री महोदय के ग़रीबी कम होने के दावे का आधार 'राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण' के आँकड़े हैं जिसमें ग़रीबी रेखा के नीचे रहने वालों की संख्या महज 28.6 फीसदी दिखायी गयी है। इन आँकड़ों के जरिये शासक वर्गों ने यह यकीन

दिलाने की कोशिश की है कि ग़रीबी घट रही है। 1979 में जब योजना आयोग द्वारा ग़रीबी रेखा के नीचे रहने वाले परिवारों की गणना शुरू हुई तब से लगभग 52 फ़ीसदी से घटकर अब यह 28 फ़ीसदी पर आ चुकी है। हर पाँच वर्ष में योजना आयोग के अर्थशास्त्री ग़रीबों को कम दिखाने के लिए आँकड़ों की पहेली कैसे खेलते हैं, हम इसे क्रमवार स्पष्ट करते हैं।

जब 1973-74 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आँकड़ों को आधार बनाकर ग़रीबी रेखा तय की जा रही थी तो यह माना गया था कि शिक्षा और स्वास्थ्य के खर्चों को ग़रीबी रेखा में नहीं जोड़ा जाएगा क्योंकि इनकी जिम्मेदारी राज्य उठायेगा। लेकिन ऐसा न तो 1974 में था और न आज है। सरकारी अस्पतालों के रूप में उपलब्ध स्वास्थ्य सुविधा ग़रीबों को स्वास्थ्य लाभ की जगह श्मशान लाभ देने में अधिक सक्षम है। सर्वशिक्षा अभियान और ऐसे तमाम अभियानों द्वारा निःशुल्क शिक्षा देने की जो बात की जाती है वह न तो आसानी से उपलब्ध है और अगर मिल भी गयी तो उसका मिलना-न-मिलना एक समान है। अर्थात शिक्षा और स्वास्थ्य जिसे ग़रीबी रेखा से अलग रखा गया, न तो उस समय उपलब्ध थी और न आज। ग़रीबी रेखा को इस रूप में परिभाषित किया गया था शहर में जो परिवार 2100 कैलोरी और गावों में 2400 कैलोरी प्रतिव्यक्ति उपभोग करेगा उसे ग़रीब नहीं माना जाएगा। यह पैमाना हास्यास्पद है क्योंकि इसमें खाना पकाने के लिए ईंधन, रहने के लिए आवास और पहनने के लिए कपड़े के व्यय को नहीं जोड़ा गया है। शिक्षा और स्वास्थ्य को पहले से ही अलग रखा गया है। अर्थात अगर कोई व्यक्ति केवल उपरोक्त कैलोरी मानक के बराबर कच्चा खाद्यान पेट में ठूँस लेता है तो वह ग़रीब नहीं है! एक हालिया सर्वेक्षण के अनुसार आज ग़रीबों की कुल आय का 75 से 80 फीसदी हिस्सा ईंधन, जूते, रिहायश और कपड़े पर खर्च होता है खाने के लिए महज 20.25 फीसदी आय ही होती है। इसी से पता चलता है कि यह ग़रीबी रेखा अतार्किक और वास्तविक ग़रीबी को छिपाने के लिए बनायी गयी है। अगर कोई व्यक्ति जी-मर कर केवल पूँजीपतियों के लिए काम करने लायक हो जाय तो वह ग़रीब नहीं माना जाएगा। यह ग़रीबी रेखा नहीं बल्कि 'भुखमरी रेखा' है।

आँकड़ों की इज़्ज़त कैसे लूटें?
दि मनमोहन-मोण्टेक वे!

ग़रीबी रेखा के नये आँकड़े आज अर्थशास्त्री कैसे तैयार करते है इस पर एक नज़र डालते हैं। इसके लिए अर्थशास्त्री 1973-74 को आधार वर्ष मानते हैं। उस समय के उपभोग की न्यूनतम मात्रा की तुलना उपभोक्ता कीमत सूचकांकों से कर दी जाती हैं, जिसके कारण ग़रीबी रेखा बेहद नीचे आ जाती है। अर्थात 1973-74 में निर्दिष्ट उपभोग स्तर के लिए जिस व्यय की गणना की गयी थी उस व्यय को आज सीधे वस्तुओं के खुदरा मूल्य के अनुसार न निकालकर उसे कीमत सूचकांकों के आधार पर समायोजित कर लिया जाता है। ग़रीबी रेखा का आधार कैलोरी उपभोग माना गया है अतः ग़रीबी रेखा की नये सिरे से गणना करके यह तय करना चाहिए कि गाँवों में 2400 और शहरों में 2100 कैलोरी का उपभोग करने के लिए कितनी औसत पारिवारिक आय होनी चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं किया जाता। किया यह जाता है कि 1973-74 के उपभोग मानक और उसके ख़र्च की वर्तमान के उपभोक्ता मूल्य सूचकांक से तुलना करके नयी ग़रीबी रेखा निकाल ली जाती है। ऐसे में साफ़ है कि ग़रीबी रेखा काफ़ी नीचे आएगी। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री उत्सा पटनायक ने आज के दौर में 2100/2400 कैलोरी उपभोग के लिए आवश्यक आय निकाली है और साथ ही यह गणना भी की है कि अगर किसी व्यक्ति की मासिक आय 356 रुपये 30 पैसे हो तो वह कितनी कैलोरी का उपभोग कर सकता है। अगर किसी ग्रामीण परिवार की प्रति व्यक्ति आय 356 रुपये 30 पैसे है तो उसका हर सदस्य प्रतिदिन महज 1890 कैलोरी का उपभोग कर पायेगा जो निर्दिष्ट मानक से 500 कैलोरी से भी ज़्यादा कम है। वहीं अगर किसी शहरी परिवार की प्रति व्यक्ति आय 538 रुपये 80 पैसे है तो वह प्रति सदस्य 1875 कैलोरी ही उपभोग कर पायेगा जो पैमाने से 225 कैलोरी कम है। अर्थात, देश में ग़रीबी नहीं कम हो रही बल्कि ग़रीबी रेखा मानक को नीचे सरका-सरका कर सरकार ग़रीबी को कम दिखलाती है। ग़रीबी रेखा के कैलोरी उपभोग के मानक को अगर नजरअंदाज़ कर दिया जाएगा तो ग़रीबी ठहरी हुई या कम होती ज़रूर दिखेगी। अगर कैलोरी उपभोग के स्तर को पोषण के परिमाण के रूप में देखें तो ग़रीबी रेखा अर्थहीन हो जाएगी। देश में अगर कुपोषण और भुखमरी बढ़ रही है तो ज़ाहिर है कि यह पैमाना अर्थहीन है। संयुक्त राष्ट्र के मानव विकास सूचकांक में भारत का स्थान 182 देशों में 134वाँ है। ज्ञात हो कि 2005 में यह स्थान 128वाँ था। बढ़ती भुखमरी और कुपोषण के कारण भारत मानव विकास के मामले में सबसहारा के देशों से भी पीछे छूटता जा रहा है। अफगानिस्तान, चाड, अंगोला, बुरूण्डी आदि भी प्रतिव्यक्ति पोषण के मुकाबले भारत से कहीं आगे हैं। ज़ाहिर है मनमोहन सिंह के मनमौजी दावों का क्या अर्थ निकाला जाय, इसका फैसला पाठक स्वयं कर सकते हैं!

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आँकड़े बताते हैं कि नयी आर्थिक नीतियों के बाद प्रतिव्यक्ति अनाज उपभोग घटा है। यह 1993-94 में शहरों 10.6 कि.ग्रा प्रतिव्यक्ति प्रतिमाह था जो 2006-2007 में 9.6 कि.ग्रा प्रतिव्यक्ति प्रतिमाह हो गया। गावों में यह 13.4 कि.ग्रा से घटकर 11.7 कि.ग्रा प्रतिमाह रह गया। इसका कारण नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद तेजी से महँगा होता जीवन और खाद्यानों में सट्टाबाज़ारी, इज़ारेदार पूँजी के निवेश, जमाखोरी और वायदा व्यापार के कारण हुई महँगाई वृद्धि है। ग़रीबी रेखा तय करते समय मुद्रास्फीति और मज़दूरी में कमी जैसे महत्वपूर्ण कारकों को नहीं शामिल किया गया है। आज के उपभोक्ता कीमत सूचकांक पिछले कुछ दिनों में महँगाई में कमी दिखा रहे हैं। जबकि दुकानों पर चीज़ें और

(पृष्ठ 34 पर जारी)

सकर्मक विमर्श

महिला आरक्षण बिल : श्रम व पूँजी के संघर्ष में, श्रम की वर्गीय एकजुटता को कुन्द करने की साजिश

• पी.पी.

मार्च महीने की एक घटना देश के खाते-पीते मध्यवर्ग एवं मीडिया में बहुत चर्चा का विषय रही। वह घटना थी अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस के 100 वें वर्ष के अवसर पर भारतीय संसद के उच्चसदन में 'महिला आरक्षण बिल' का रखा जाना और एक नाटकीय घटनाक्रम के बाद 9 मार्च को 1 मत के बरक्स 186 मतों से पास होना। तमाम बुद्धिजीवियों द्वारा व मीडिया जगत में इसे स्त्री मुक्ति के आन्दोलन में एक क्रान्तिकारी क़दम माना जा रहा है। इसे एक ऐसी पाथब्रेकिंग व ट्रेण्डसेटर शुरुआत बताया जा रहा है जो महिला मुक्ति की लड़ाई में आगे की दिशा निर्धारित करेगी। मीडिया जगत की तमाम टिप्पणियों एवं मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों तथा स्त्रीवादी संगठनों के हर्षोल्लास की ख़बरों को निगाह में रखते हुए हम अपनी बात शुरू करेंगे।

क्या है 'महिला आरक्षण बिल'?

'महिला आरक्षण बिल' अपने वर्तमान स्वरूप में संसद एवं विधान-सभाओं में एक तिहाई महिला आरक्षण की बात करता है। राज्य सभा में तमाम तीन तिकड़मों से पास हुआ यह बिल चुनाव क्षेत्रों के परिसीमन एवं जनप्रतिनिधित्व क़ानून में संशोधन कर एक तिहाई क्षेत्रों को केवल महिला प्रतिनिधियों के लिए आरक्षित करेगा। हालाँकि यह बात अलग है कि अभी इसे पूरी तरह पास होने के लिए लोकसभा में पास होने, राष्ट्रपति के हस्ताक्षर व 16 राज्यों से पूरी तरह पास होना आवश्यक है। परन्तु यू.पी.ए. सरकार के रुख और तमाम अन्य पूँजीवादी पार्टियों के इस मत पर रुख देखते हुए ऐसा लगता है कि देर-सवेर यह बिल पास हो जाएगा। सर्वप्रथम 1996 में पेश होने के बाद से लगभग 14 वर्षों बाद यह बिल इस मंज़िल तक पहुँचा है। इसके पास होने के बाद 543 सीटों वाली लोकसभा में 181 महिलाएँ 28 विधानसभाओं के 4109 सदस्यों में 1370 महिला सदस्य होंगी। प्रथमदृष्टया इन सभी आँकड़ों और इस क़ानून को देखते हुए ऐसा भ्रम हो सकता है कि महिलाओं की संसद में भागीदारी बढ़ने से महिलाओं की हालात में सुधार ज़रूर आयेगा। उनका सशक्तिकरण ज़रूर होगा। लेकिन ठीक वैसे ही जैसे भारतीय संसद और विधानसभाओं में पुरुष सांसदों और विधायकों के पहुँचने से यहाँ की मेहनतकश पुरुष आबादी की स्थिति में हुआ है। जहाँ एक ओर ग़रीबी से कराहता व्यापक मेहनतकश जनसैलाब तो दूसरी तरफ़ अमीरजादों और परजीवियों की मुट्ठी भर जमात है। महिला आरक्षण बिल से जो लोग महिला सशक्तीकरण की और महिलाओं को परिधि से निर्णयकारी निकायों की राजनीति के केन्द्र में आने की उम्मीद लगाए बैठे हैं, उन्हें काफ़ी हताशा का सामना करना पड़ सकता है। हम सभी जानते हैं कि संसद में पहुँचने वाली 33 प्रतिशत महिलाएँ कौन होंगी। इस बिल पर 'कोटा के भीतर कोटा' की ज़मीन से उठाए जाने वाले सवाल तो हास्यास्पद हैं, जिन्हें शरद यादव, लालू प्रसाद यादव और मुलायम सिंह यादव आदि जैसे लोग उठा रहे हैं। लेकिन यह भी साफ़ है कि इस देश की 80 फीसदी आम मेहनतकश महिलाओं को कोई नुमाइंदगी नहीं मिलने वाली है। कहीं कुछ अपवादस्वरूप मिल जाने वाली राहत के अतिरिक्त इससे और कुछ भी उम्मीद रखना आकाश कुसुम की अभिलाषा समान है। वास्तव में यह बिल शासक वर्ग के वर्चस्व को और अधिक मज़बूत बनाता है। शासक वर्ग दमित तबकों में से जितनी जल्दी सत्ता में भागीदारों का एक वर्ग पैदा करेगा उसके वर्चस्व के लिए उतना ही अच्छा होगा। यह बिल मध्यम वर्ग और निम्न मध्यम वर्ग की महिलाओं के अच्छे-खासे हिस्से में एक भ्रम की स्थिति पैदा कर रहा है। लोगों को लग रहा है कि राज्यसत्ता ने स्त्रियों को सत्ता में इस तरह भागीदारी देकर एक क्रान्तिकारी कदम उठाया है। लेकिन इस भ्रम से जल्दी ही उनका मोहभंग हो जाएगा। जहाँ तक आम मेहनतकश आबादी का प्रश्न है, उसमें ऐसे कोई भ्रम नहीं है।

महिला आरक्षण बिल के आने के घटनाक्रम की शुरुआत से ही विभिन्न राजनीतिक पार्टियों द्वारा इसके पक्ष और विपक्ष में जिस तरह के बयान आने शुरू हुए उनमें वर्षों पुरानी उनकी वोट आधारित राजनीति की ही प्रमुखता दिखी। कांग्रेस इसको अपने महिला सशक्तीकरण अभियान के एक हिस्से से जोड़कर देख रही है और मध्यवर्ग के वोट बैंक को अपना निशाना बना रही है। स्पष्ट है कि अपनी दलगत अवस्थिति के कारण इस विधेयक के पास होने के बाद भारतीय राज्य व्यवस्था में कांग्रेस की भूमिका में और अधिक इजाफ़ा होगा। इसलिए सोनिया और मनमोहन सिंह इसको पास करवाने के लिए इतने दृढ प्रतिज्ञ दिख रहे थे। अर्थशास्त्री मनमोहन सिंह ने अपना भाषण समाप्त करते हुए शायराना अंदाज़ में कहा ''आगाज़ अच्छा न सही, अंजाम अच्छा होगा।'' भाजपा के लिए अजीब दुविधा की स्थिति थी। इस बिल का विरोध करके वह महिलाओं के बीच अपने वोट बैंक को गँवाना नहीं चाहती थी। पार्टी के भीतर भारी विरोध के बावजूद भाजपा को इस बिल का समर्थन करना पड़ा, वह भी मुँह पर एक चौड़ी मुस्कान के साथ। स्पष्ट है कि विरोध-विरोध का रट लगाने वाली भाजपा के समझ में शायद आ गया है कि अब वोट बैंक के लिए उनका यह हथकण्डा असफल हो गया है, अब उनको इस बिल को पास करवाने का श्रेय लेकर वोट राजनीति के लिए एक नया एजेण्डा प्राप्त होगा। मुलायम सिंह, लालू प्रसाद आदि के विरोध के

पीछे उनकी अपनी चिन्ताएँ हैं जिसका आधार अपने-अपने खिसकते हुए वोट बैंक को बचाना है। यही कारण है जाति, पिछड़ों आदि को आधार बताते हुए वे कह रहे हैं कि वे मौजूदा रूप में इस बिल का समर्थन नहीं करेंगे। संसदीय वामपंथियों ने हमेशा ही ऐसे बिलों का समर्थन किया है जिन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था के वर्चस्व और उम्र को बढ़ाने का काम किया है। इस बार भी वे चूके नहीं और इस बिल के राज्य सभा में पास होने को उन्होंने अपने स्त्री संगठनों के संघर्ष और दबाव का नतीजा बताया। कुल मिलाकर, पर्याप्त प्रपंच के बाद यह बिल अन्ततः राज्यसभा में पास हुआ।

पूँजीवादी मीडिया से लेकर कुलीन एन.जी.ओ. ब्राण्ड स्त्रीवादी संगठनों तक ने इसे भारत के इतिहास की ऐतिहासिक घटना करार दिया। तथाकथित वामपंथी संगठनों के स्त्री मोर्चों ने भी इस बिल का स्वागत किया। लेकिन समाज के विकास की गति को समझने वाला कोई भी व्यक्ति समझ सकता है कि समाज में इस प्रकार के परिवर्तन क़ानूनों, अधिनियमों और विधेयकों के जरिये नहीं होते हैं। ऐसे क़ानूनी उपायों से अधिक से अधिक एक नाममात्र की राहत मिलती है। वास्तव में इनका असली काम मेहनतकश जनता और आम ग़रीब जनता के बीच विभ्रम की स्थिति तैयार कर मौजूदा व्यवस्था के वर्चस्व को मज़बूत करना होता है। अगर आज औरतों की आम सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर निगाह डालें तो साफ़ हो जाता है कि ऐसे ऊपर से रख दिये गये क़ानूनों से उनकी स्थिति में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आने वाला है। 55% महिलाओं का वजन अस्वस्थ होने की हद तक कम है। देश में हर 73 मिनट में एक औरत को दहेज के लिए जला दिया जाता है। कन्या भ्रूण हत्याओं का मामला बढ़ता जा रहा है। संविधान सम्पत्ति की रक्षा का अधिकार तो देता है मगर जीवन जीने के लिए बुनियादी अधिकार (शिक्षा, चिकित्सा, आवास, पेयजल, रोज़गार) बाज़ार की शक्तियों के अधीन हैं। जब इस देश का सबसे बड़ा क़ानून 'भारतीय संविधान' आधी शताब्दी बाद भी इस देश की 80% जनता को (जिसमें स्त्रियों की आबादी का आधा हिस्सा है) बदहाली और तंगहाली के सिवा कुछ नहीं दे सका तो उसको आरक्षण का क़ानून क्या खाक दे सकेगा।

जिस तरह रोज़गार एवं अवसरों को उपलब्ध कराने में असफल रही पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा दलित व पिछड़े वर्ग के लिए लागू किये गए आरक्षण से व्यापक दलित व पिछड़े वर्ग को कोई लाभ नहीं हुआ, बल्कि इन वर्गों से कुछ पूँजी के चाकर पैदा हुए और व्यापक मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में अस्मितावादी राजनीति ज़ोर मारने लगी, उसी तरह इस क़ानून से भी आम औरतों को कोई लाभ नहीं होने वाला है। इसके द्वारा स्त्रीवादी आन्दोलन को व्यापक मेहतनकश जनता के आन्दोलन से न जुड़ने देने की साज़िश सत्ता प्रतिष्ठान द्वारा रची गयी है। न तो स्त्रियों के प्रति पितृसत्तात्मक मानसिकता से जकड़े तमाम सत्ताधारी पुरुषों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया है और न ही औरतों को चूल्हा-चौका, बच्चा पैदा करने और पति की सेवा करने तक सीमित कर देने के हिमायती और फासीवाद के प्रबल समर्थक संघ परिवार के राजनीतिक मुखौटे भाजपा की विश्वदृष्टि में कोई बदलाव आया है। ऐसे में समझा जा सकता है कि महिला आरक्षण बिल का वास्तविक लक्ष्य क्या है और इसे लेकर सभी चुनावी दल इतनी नौटंकी क्यों कर रहे हैं।

आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश ● जनचेतना, जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर, ● जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ ● जनचेतना स्टॉल, कॉफ़ी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 बजे से 8.30 तक) ● शहीद पुस्तकालय द्वारा डॉ. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवा सदन, मर्यादपुर, मऊ ● प्रोग्रेसिव बुक स्टॉल, विश्वनाथ मंदिर गेट, बी.एच.यू. वाराणसी ● करेंट बुक डिपो, 18/53, माल रोड, नूलबाग के सामने, कानपुर। **दिल्ली** ● अभिनव सिन्हा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर ● पी.पी.एच., जे.एन.यू. ● गीता बुक सेंटर, जे.एन.यू. ● यू. स्पेशल : दि यूनिवर्सिटी बुकशॉप, नॉर्थ कैम्पस, दिल्ली विश्वविद्यालय। **बिहार** ● श्री रामनारायण राय (शिक्षक), प्रोफ़ेसर कॉलोनी, सी.एन. कॉलेज साहेबगंज, पो.-करनौल, जिला मुजफ्फ़रपुर ● डॉ. गिरिजाशंकर मोदी, 'शब्दसदन', सिकंदरपुर, मिरजानहाट, भागलपुर ● प्रगतिशील साहित्य सदन, पटना कालेज गेट के सामने, अशोक राजपथ, पटना ● वाणी प्रकाशन, पटना कॉलेज के सामने, अशोक राजपथ, पटना ● मैगजीन कॉर्नर, दिनकर चौक, नालारोड, पटना। **राजस्थान** ● चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधो की गली, एम.डी. रोड, जयपुर ● शैलेन्द्र चौहान द्वारा शिवराम सं. 'अभिव्यक्ति', 4/पी/46, तलवण्डी, कोटा ● ओ.पी. गुर्जर, 137, गोल्फ़ कोर्स स्कीम, एयर फ़ोर्स, जोधपुर। **हरियाणा** ● डॉ. सुखदेव हुंदल, ग्राम़पोस्ट संतनगर वाया जीवन नगर, सिरसा। **महाराष्ट्र** ● सनी/प्रशांत, रूम नं.-152, हॉस्टल नं.-6, आई.आई.टी. मुम्बई, पवई, मुम्बई ● वी. पी. सिंह, बी-5, संकष्टि कोआपरेटिव हाउसिंग सोसायटी, हाजी मलंग रोड, चक्की नाका, कल्याण ● पीपुल्स बुक हाउस, मेहरजी हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट फ़ोर्ट, मुम्बई ● अनुज कुमार, आयुष छात्रावास, म.गां.अं. हिंदी वि.वि., मानस मंदिर, पंचटीला, वर्धा-442008 ● खन्ना जी, विश्वभारती प्रकाशन, धनवते चैंबर्स, सीतावर्दी, नागपुर । **पंजाब** ● सुखविन्दर, 154, ओम बेकरी के सामने, शहीद करनैल सिंह नगर, फ़ेज-3, पखोवाल रोड, लुध्याना ● पंजाब बुक सेण्टर, SLO-1126-27, सेक्टर - 22 बी चण्डीगढ़। **पश्चिम बंगाल** ● पुस्तक केन्द्र, भारतीय भाषा परिषद, 36ए, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता ● मिथलेश कुमार, बी-20, बी.पी. टाउनशिप, कोलकाता ● न्यू होराइजन बुक ट्रस्ट, 57/1, पटुआ टोला लेन, कोलकाता ● बुक मार्क, 6, बंकिमचन्द्र चटर्जी स्ट्रीट, कोलकाता-700094। **मध्यप्रदेश** ● जसमीत सिंह, डी/5, एलआईसी, निकट अन्नपूर्णा कांप्लेक्स, कोटरा, सुल्तानाबाद, भोपाल-462003 ● संजय बुक स्टॉल, शाप नं. 43, ग्वालियर। **हिमाचल प्रदेश** ● सुरेश सेन 'निशांत', गाँव सलाह, डाक. सुन्दरनगर-1, जिला- मण्डी।

सकर्मक विमर्श

सूचना का अधिकार : एक कागजी हथियार

• योगेश

2005 जब में सूचना का अधिकार अधिनियम लागू हुआ था तो यू.पी.ए. सरकार ने इस क़ानून को ''लोकतन्त्र'' को पारदर्शी बनाए रखने और 'जनता का हथियार' कहकर खूब महिमामण्डित किया था। लेकिन चार वर्ष बीतते-बीतते जहाँ इस क़ानून के ठीक से लागू ही न हो पाने पर सवाल उठने लगे, वहीं दूसरी तरफ दो सूचना का अधिकार कार्यकर्त्ताओं की हत्या ने पूँजीवादी 'लोकतन्त्र' की हकीकत को भी सामने ला दिया। ऐसे में यू.पी.ए. सरकार ने सूचना अधिकार में दबे-पाँव संशोधन कर इस कागजी 'हथियार' की धार को भी कुन्द करने की कोशिश की है। सरकार ने 14 अक्टूबर 2009 को दिल्ली में मीटिंग कर एक संशोधन का प्रस्ताव पेश किया जिसके तहत सरकार सूचना अधिकारी को 'फाइल नोटिंग' दिखाने का हक और 'फालूत और तंग करनेवाले' सवालों को खारिज करने का अधिकार देना चाहती है। इस प्रस्तावित संशोधन का बुद्धिजीवियों ने अलग-अलग माध्यमों से काफ़ी विरोध किया। ज़ाहिरा तौर पर सूचना अधिकार क़ानून एक जनवादी हक है और इन संशोधनों पर विरोध करना भी जायज हैं। लेकिन इस भ्रम में रहना घातक है कि इस क़ानून से देश की जनता को कोई क्रान्तिकारी अधिकार मिल गया है और इसके जरिये जनता को प्रशासन और व्यवस्था के भ्रष्टाचार से मुक्ति मिल जाएगी। क्योंकि एक भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद की कल्पना करना असंभव है। इस क़ानून के चार साल के ''गौरवमय'' इतिहास पर नज़र डाल लेने से ही इस कथन की सच्चाई साबित हो जाती है।

पिछले चार वर्ष का कुल लेखा-जोखा एक रिपोर्ट खुद-ब-खुद बयान कर देती है। एक हालिया रिपोर्ट के अनुसार **85 प्रतिशत** जनता को तो इस क़ानून के बारे में पूरी जानकारी भी नहीं है। जिन्हें है भी उनमें से केवल **27 प्रतिशत** को ही सही जानकारी उपलब्ध हो पाती है इस क़ानून की दूसरी बड़ी खामी जो सामने आई वह यह है कि सरकारी अधिकारी सूचना आवेदक को सूचना प्राप्त कराने के लिए भगाते रहे या अधूरी सूचनाएँ दी गई। जबकि कई ग्रामीण इलाकों में तो कोई सूचना दी ही नहीं गई। इलाहाबाद उच्च न्यायालय में आपको एक सूचना माँगने के 500 रुपए लगेंगे और जो सूचना मिलेगी उसकी कीमत होगी प्रति पेज 50 रुपए! इस मामले को वहाँ के सामाजिक कार्यकर्त्ताओं ने कोर्ट में चुनौती दी। लेकिन कोर्ट इसे नहीं मान रहा। उनके अनुसार लोक प्राधिकरण को यह अधिकार है। इसके अतिरिक्त, आप हाईकोर्ट के जज और मन्त्रियों की नियुक्ति पर कोई सवाल नहीं कर सकते। वहीं बिहार में सुशासन का ढोल पीटने वाले नीतीश जी के राज में एक आवेदक को सूचनाएँ उपलब्ध करने के लिए एक अधिकारी ने पन्द्रह लाख चौबीस हजार नौ सौ बासठ रुपये (15,24962) का बिल भेज दिया तथा कई बार इस अधिकार का इस्तेमाल करने वालों को परेशान करने और झूठे आरोपों में फँसाने की कोशिशें होती रही। इतना ही नहीं, पुणे के सतीश शेट्टी और बिहार के शशिधर मिश्र ने जब सरकारी विभाग और प्रावेइट कम्पनी के भ्रष्टाचार को उजागर करने के लिए सूचनाएँ माँगी तो दोनों की हत्याएँ करा दी गयी। यानी अगर इसके इस्तेमाल की क़ीमत अपनी जान देकर चुकानी पड़े तो यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सरकारी भ्रष्टाचार पर फन्दा लगाने वाला यह क़ानून कई बार स्वयं ही लोगों के गले का फन्दा बन जा रहा है।

वैसे भी सूचना अधिकार क़ानून बनाने की मंशा सरकार की इसलिए नहीं थी कि व्यवस्था को भ्रष्टाचार-मुक्त और पारदर्शी बनाया जाए। बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकार समय-समय पर ऐसे कुछ कदम उठाते रहते है जो भ्रष्टाचार पर रोक लगाने और राजनीतिक-प्रशासनिक ''सुधार'' का काम करते हैं, ताकि जनता का विश्वास इस व्यवस्था में बना रहे। वास्तव में सूचना के अधिकार का क़ानून एक ऐसा अधिकार है जो देश की जनता को दशकों पहले मिल जाना चाहिए था। भारत में मौजूद पूँजीवादी व्यवस्था लोगों को सीमित जनवादी अधिकार देती है। अभी भी अगर हम पश्चिमी पूँजीवादी देशों की व्यवस्थाओं से तुलना करें तो कई ऐसे जनवादी अधिकार हैं जो जनता को बहुत पहले ही मिल जाने चाहिए थे। इसलिए सूचना के अधिकार को देकर पूँजीवादी व्यवस्था ने कोई उपकार नहीं किया है। उल्टे इस बात के लिए इसकी आलोचना होनी चाहिए कि यह आज़ादी के लगभग छह दशक बाद क्यों मिला?

लेकिन भारत का मध्यवर्ग इस अधिकार के मिलने पर फूले नहीं समाता और मनमोहन सिंह और सोनिया गाँधी की भलमनसाहत पर सदके जाता है। इसका लाभ उठाने के लिए जिस आरम्भिक बौद्धिक, राजनीतिक और सामाजिक सम्पदा और रुतबे की ज़रूरत है वह देश के आम मेहनतकश 85 करोड़ लोगों के पास नहीं है। आँकड़े भी इस बात की ताईद करते हैं कि इस अधिकार का सफलतापूर्वक उपयोग भी अपवादों को छोड़कर अधिकांश मामलों में निम्न मध्यम वर्ग या उससे ऊपर के लोगों ने किया है। प्रशासन के भ्रष्टाचार और व्यवस्था के अन्याय का जो वर्ग सबसे बुरी तरह शिकार होते हैं वे इस अधिकार का उपयोग नहीं कर पाते हैं। और अब इसमें हो रहे संशोधन के बाद तो इस क़ानून की रही-सही ताक़त भी जाती रहेगी। इसका थोड़ा-बहुत उपयोग इस संशोधन के बाद भी

मध्यम वर्ग ही कर पाएँगे। लेकिन यही वे वर्ग हैं जो जनता के व्यापक हिस्सों में जनमत निर्माण का काम करते हैं। साफ़ है कि संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार ने यह क़ानून अपने पक्ष में वोट बटोरने और सत्ता में बने रहने के लिए बनाया है। कुल मिलाकर, यह क़ानून कितना जनहितकारी साबित हुआ है यह हमने आँकड़ों के जरिये देख ही लिया है।

इसके अतिरिक्त, जैसा कि हमने पहले कहा है, हर पूँजीवादी व्यवस्था अपनी उम्र को बढ़ाने के लिए कुछ ऐसे रैडिकल दिखने वाले क़ानून और अधिनियम बनाती ही रहती है। इसके बिना पूँजीवादी व्यवस्था का वर्चस्व कभी बना नहीं रह सकता। ऐसे सुधारवादी कदमों के बिना वह जनता की सहमति (कन्सेण्ट) को बरकरार नहीं रख सकती। ये क़ानून व्यवस्था के लिए सेफ़्टी वॉल्व की तरह काम करते हैं और जनअसन्तोष को क्रमिक प्रक्रिया में कम करते हैं। इस वर्चस्व को पूर्ण बनाने का काम अरविन्द केजरीवाल, अरुणा राय जैसे तमाम सुधारवादी करते हैं जो इन क़ानूनों को बेहद क्रान्तिकारी क़ानून के रूप में पेश करते हैं। यह अकारण नहीं है कि इस क़ानून के अस्तित्व में आने के साथ ही इससे सम्बन्धित हज़ारों स्वयंसेवी संगठन (एन.जी.ओ.) देश भर में खुल गये। इस क़ानून पर भी एक पूँजीवादी समाज में जमकर कमाई हो रही है। क़ानून के बारे में जनता के बीच जागरूकता फैलाने और लोगों को इसका इस्तेमाल करने के लिए प्रेरित करने के नाम पर ये एन.जी.ओ. लाखों रुपयों की कमाई कर रहे हैं।

क़ानूनों, अधिनियमों या विधेयकों से एक पूँजीवादी समाज में भ्रष्टाचार ख़त्म नहीं हो सकता। हमें यह समझना होगा कि पूँजीवादी व्यवस्था अपने आप में जनता के साथ बहुत बड़ा भ्रष्टाचार है। एक मुनाफ़ा-केन्द्रित समाज में भ्रष्टाचार पनपने से कोई उपदेश, क़ानून या अपील नहीं रोक सकता। यह ऐसे समाज में नियमतः और अनिवार्यतः पैदा होगा। इसलिए ऐसे क़ानूनों का उपयोग करने में कोई बुराई नहीं है लेकिन उनकी सम्भावना-सम्पन्नता को लेकर कोई विभ्रम की स्थिति नहीं पैदा की जानी चाहिए।

पूँजी की सेवा में विज्ञान

(पृष्ठ 16 से आगे)

निकाला जा सकता है। विज्ञान को पूँजीवाद की बेड़ियों से मुक्त करने का प्रश्न पूरी मानवता को पूँजीवाद की बेड़ियों से मुक्त करने का प्रश्न है। एक सच्चा समर्पित वैज्ञानिक वह नहीं हो सकता जो दुनिया-जहान से कटकर, सामाजिक सरोकारों से कटकर और अपने मालिक के भाड़े का टट्टू बनकर प्रयोगशाला में उसके लिए काम करता रहे; वह विज्ञान का क्लर्क/कार्मिक तो हो सकता है मगर 'वैज्ञानिक' होना एक अलग बात है। आधुनिक युग के महानतम वैज्ञानिक आईंस्टीन भी इसी बात की ताईद करते हैं और शायद इसीलिए वे आईंस्टीन थे।

(लेखक आई.आई.टी., बॉम्बे में गठित संस्था 'साइण्टिस्ट्स फॉर सोसायटी' से जुड़े हुए हैं)

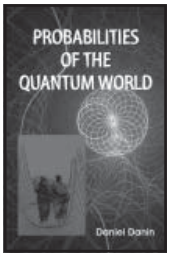

Probabilities of the Quantum World

Daniel Danin

This book presents a fascinating account of the first three decades of the previous century when the edifice of quantum mechanics was built with the participation of scientists from all over the world. It is not a drab account of the events and theories but "a mixture of ideas and passions, moments of inspiration and despair, joy and sadness...." **Price: 80/-**

Janchetna, D-68, Nirala Nagar, Lucknow-226020

प्रधानमन्त्री की लफ़्फ़ाज़ी

(पृष्ठ 30 से आगे)

महँगी बिक रही हैं। इसका कारण थोक मूल्यों के आधार पर उपभोक्ता सूचकांकों की गणना है जो अपने आप में अधूरी और गलत है। मुद्रास्फीति के कारण को नज़रअन्दाज़ कर दें तो 1973-74 के मानकों से मज़दूरी बढ़ी नज़र आती है। लेकिन अगर मुद्रास्फीति के कारक को समायोजित करें तो हम पाते हैं कि इस देश के मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता की वास्तविक आय में कमी आयी है और यह उसके जीवन-स्तर में साफ़ तौर पर प्रतिबिम्बित हो रहा है। जाहिर है कि आँकड़ों के साथ यह अन्यायपूर्ण ज़ोर-ज़बर्दस्ती इस काम में माहिर हो चुका देश का व्यभिचारी शासक वर्ग ही कर सकता है। लेकिन जो आधी से अधिक आबादी वास्तव में ग़रीबी रेखा के नीचे गुज़र कर रही है वह प्रधानमन्त्री की बयानबाज़ी से यह फैसला नहीं करेगी कि वह ग़रीब है या नहीं बल्कि वह अपने जीवन की स्थितियों से यह फैसला करेगी। और उसके जीवन की स्थितियाँ दारुण हैं और उसके अन्दर बग़ावत पैदा कर रही हैं। ऐसे में प्रधानमन्त्री महोदय के ऐसे बयान उच्च मध्यम वर्ग और मध्यम वर्ग के पढ़े-लिखे अनपढ़ों को तो मूर्ख बना सकते हैं, लेकिन इस देश के 80 फीसदी आम मेहनतकश अवाम को नहीं। अब आँकड़ों को इस कदर तोड़ना-मरोड़ना न पड़े, इसके लिए सरकार ग़रीबी रेखा को ही 1800 कैलोरी घोषित करने पर विचार कर रही है। इससे खुद ही साफ़ हो जाता है कि मनमोहन के मनमानीपूर्ण दावों की असलियत क्या थी!

भाषा-संस्कृति

वर्ग समाज में भाषा स्वयं वर्ग-संघर्ष का एक क्षेत्र बन जाती है –न्गूगी वा थ्योंगो

न्गूगी वा थ्योंगो व्यवस्था विरोधी, जनपक्षधर लेखकों की उस गौरवशाली परम्परा की कड़ी हैं, जो हर क़ीमत चुकाकर भी बुर्जुआ सत्ता प्रतिष्ठानों और सामाजिक ढाँचे के अन्तर्निहित अन्यायी चरित्र को उजागर करते रहे, जिन्होंने आतंक के आगे कभी घुटने नहीं टेके और जनता का पक्ष कभी नहीं छोड़ा। कला-साहित्य के क्षेत्र में आज सर्वव्याप्त अवसरवाद के माहौल में उनका जीवन और कृतित्व अनवरत प्रज्वलित एक मशाल के समान है। हिन्दी में उनकी एक और पुस्तक के शीघ्र प्रकाशन के अवसर पर हम 'आह्वान' के पाठकों के लिए इस महान लेखक और भाषा एवं संस्कृति पर उनके विचारों का एक परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं। – सम्पादक

केन्याई लेखक न्गूगी वा थ्योंगो की गणना बीसवीं शताब्दी के महानतम अफ़्रीकी रचनाकारों में की जाती है। लेकिन सर्जनात्मक लेखन (उपन्यास, नाटक, कहानियाँ) के अतिरिक्त भाषा, संस्कृति, समाज और सत्ता के अन्तर्सम्बन्धों पर, और विशेषकर औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में साम्राज्यवादी वर्चस्व (या जनसमुदाय के मानसिक उपनिवेशन के लिए) के सुदृढ़ीकरण के लिए भाषा, संस्कृति और शिक्षा के इस्तेमाल पर न्गूगी ने जो चिन्तन और लेखन किया है, उसके नाते उन्हें बीसवीं शताब्दी के अग्रतम सांस्कृतिक और भाषाशास्त्रीय चिन्तकों की पंक्ति में निर्विवाद रूप से शामिल किया जा सकता है। इसके साथ ही, न्गूगी ने अफ़्रीकी महाद्वीप की राजनीतिक स्थिति, सत्तासीन होने के बाद अफ़्रीकी बुर्जुआ वर्ग के चरित्र-परिवर्तन, साम्राज्यवाद के सहयोगी के रूप में उसकी भूमिका तथा राजनीतिक वर्चस्व एवं आर्थिक शोषण की जकड़बन्दी बनाये रखने के लिए साम्राज्यवादियों द्वारा अपनाये जाने वाले हथकण्डों का अपने लेखों और भाषणों में जितना प्रभावशाली उद्घाटन किया है, उसे देखते हुए राजनीतिक विश्लेषक के रूप में उनकी प्रतिभा असन्दिग्ध है।

न्गूगी ने भाषा और संस्कृति पर विमर्श को आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक तन्त्र के विश्लेषण से अन्तर्सम्बन्धित किया है। उनका यह विश्लेषण निस्सन्देह कुशाग्र वैज्ञानिक विश्लेषण है। न्गूगी ने सभी जनपक्षधर अफ़्रीकी लेखकों से, भाषा-संस्कृति विषयक अपनी मान्यता के अनुरूप, यह आह्वान किया कि उन्हें अंग्रेज़ी के बजाय अपनी मातृभाषाओं में लिखकर जनता के साथ संवाद क़ायम करना चाहिए और जनता के मानसिक उपनिवेशन के शासकवर्गीय षड्यन्त्र और वर्चस्व की राजनीति के विरुद्ध संघर्ष का मोर्चा खोलना चाहिए। उनकी मान्यता है कि औपनिवेशिक सांस्कृतिक हमले के प्रतिरोध के बीज संस्कृति में ही छिपे होते हैं, जो आगे चलकर मुक्ति आन्दोलन के निर्माण और विकास में सहायक होते हैं। भाषा के साम्राज्यवाद और उत्तर-औपनिवेशिक राज्य एवं संस्कृति के चरित्र के अतिरिक्त न्गूगी ने साम्राज्यवाद और क्रान्ति, नस्लवादी विचारधारा, साहित्य में नस्लवाद, राष्ट्रीय संस्कृति के लिए शिक्षा, स्कूलों में साहित्य का अध्ययन, अफ़्रीकी साहित्य के विकास में बुद्धिजीवियों की भूमिका और अफ़्रीकी साहित्य की भाषा आदि विषयों पर विपुल मात्रा में लिखा है। ये सभी प्रश्न भारतीय उपमहाद्वीप के बुद्धिजीवियों और जागरूक जनसमुदाय के लिए भी जीवन्त-ज्वलन्त प्रश्न हैं।

मगर न्गूगी के जीवन और कृतित्व से भारतीय भाषाओं के पाठक कम ही परिचित हैं। आनन्द स्वरूप वर्मा द्वारा अनूदित-सम्पादित न्गूगी के लेखों के दो संकलन 'भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता' तथा 'औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति : शिक्षा और संस्कृति की राजनीति' प्रकाशित हो चुके हैं। गत वर्ष नवम्बर में दिवंगत कवि, लेखक, पत्रकार रामकृष्ण पाण्डेय ने भी न्गूगी के कई लेखों का अनुवाद किया था, जो 'आमुख' और कुछ अन्य पत्रिकाओं में प्रकशित

हुए थे। न्गूगी की पुस्तक **'पेनप्वाइण्ट्स, गनप्वाइण्ट्स ऐण्ड ड्रीम्स : टुवर्ड्स ए क्रिटिकल थियरी ऑफ दि आर्ट्स ऐण्ड दि स्टेट इन अफ़्रीका'** का उनका अनुवाद **'कलम, बन्दूक की नोक और सपने : अफ़्रीका में राज्य और कला के आलोचनात्मक सिद्धान्त की ओर'** शीर्षक से 'परिकल्पना प्रकाशन' से जल्दी ही प्रकाशित होने वाला है। यह ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में न्गूगी द्वारा दिये गये चार भाषणों का, उन्हीं के द्वारा सम्पादित रूप है। पुस्तक में संकलित अपने भाषणों में न्गूगी कला और विचारों के वैश्विक और ऐतिहासिक परिदृश्य पर, दिक्-काल में स्वच्छन्द विचरण करते हुए प्लेटो से लेकर समकालीन दार्शनिकों तक, प्राक् प्राचीन मिस्र से लेकर उत्तर-औपनिवेशिक न्यूयॉर्क तक, मैकाले के औपनिवेशिक कार्यक्रमों से लेकर मार्क्स और माऊ-माऊ विद्रोह तक तथा कला और राज्य के बीच संघर्ष से लेकर उन खूबसूरत चीज़ों तक पर अपने विचार रखते हैं, जिनका जन्म अभी आने वाले दिनों की बात है।

न्गूगी वा थ्योंगो एक ऐसे लेखक, संस्कृतिकर्मी और विचारक हैं, जिनकी वैचारिक प्रतिबद्धता और जीवन में कोई फाँक नहीं है। वे एक ऐसे रैडिकल वामपन्थी हैं, जो अपने विचारों के साथ-साथ व्यावहारिक क्रियाकलापों में भी आम लोगों के जीवन और संघर्षों से जुड़े रहे हैं तथा जेल, उत्पीड़न, यन्त्रणा और राज्य-प्रायोजित गुण्डों के हमलों का सामना करते हुए इसकी क़ीमत चुकायी है। वह पुस्तकालयों, सभागारों और अध्ययन-कक्षों तक सिमटे रहने वाले झींगुरी वृत्ति के प्राणी नहीं हैं। बौद्धिक अवसरवाद उन्हें छू तक नहीं गया है। विश्वव्यापी प्रसिद्धि ने न उनकी सरलता छीनी है, न ही उनकी रीढ़ की हड्डी को लचीला बनाया है। पश्चिमी बौद्धिक प्रतिष्ठानों और पुरस्कार समितियों द्वारा उपेक्षा ने उन्हें कुण्ठित नहीं किया है। भूमण्डलीकरण की शीतलहर से न तो उनके हृदय की ऊष्मा क्षरित हुई है, न ही तमाम उत्तर- आधुनिकतावादी विचार-सरणियों से उनकी वैचारिक दृष्टि धुँधली हुई है।

'दि ईस्ट अफ़्रीकन स्टैण्डर्ड' (8 सितम्बर, 2002) नामक अख़बार में एक टिप्पणीकार ने लिखा था : "पूर्वी और मध्य अफ़्रीकी लेखकों में न्गूगी महानतम इसलिए हैं क्योंकि वे दक्षिणी अफ़्रीका के पीटर अब्राहम और पश्चिमी अफ़्रीका के चिनुआ अचेबे की तरह बड़े विषयों पर लिखते हैं।... साहित्य में इन तीन लेखकों का वही दर्जा है जो राजनीति में क्वामे एन्क्रूमा, जोमो केन्याटा और नेल्सन मण्डेला का है।" न्गूगी को महानतम अफ़्रीकी लेखकों में से एक मानते हुए भी, हम समझते हैं कि अफ़्रीकी राजनीति की महान हस्तियों के समकक्ष यदि खड़ा करना ही हो तो न्गूगी को अमिल्कर कबराल और पैट्रिस लुमुम्बा के साथ रखा जा सकता है। भूलना न होगा कि घाना में सत्ताच्युत होने से पहले एन्क्रूमा की आकर्षक एवं रैडिकल बातों और उनकी अमली राजनीति की फाँक स्पष्ट हो चुकी थी, केन्या में सत्तासीन होने के बाद जोमो केन्याटा की सरकार अन्ततः एक भ्रष्ट, उत्पीड़क और साम्राज्यवाद-परस्त सरकार बन गयी थी (जिसके विरुद्ध आवाज़ उठाने की क़ीमत स्वयं न्गूगी को चुकानी पड़ी थी) और दक्षिण अफ़्रीका में सत्तासीन होने के बाद स्वयं नेल्सन मण्डेला ने ही निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों पर अमल की शुरुआत की थी, जबकि साहित्य की दुनिया में न्गूगी की प्रतिबद्धताएँ लगातार अविचल-अकुण्ठ बनी रही हैं।

औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में भाषा, शिक्षा और संस्कृति से राजनीति के रिश्ते पर, यूँ कहें कि शिक्षा-संस्कृति और भाषा की राजनीति पर न्गूगी का चिन्तन कई मायनों में मौलिक है और 'पाथब्रेकिंग' है। इसमें भी भाषा के प्रश्न पर न्गूगी का चिन्तन विशेष तौर पर विचारोत्तेजक है। भाषा-प्रश्न पर मार्क्सवादी चिन्तन-परम्परा में रूसी भाषाशास्त्री वी.एन. वोलोशिनोव का चिन्तन सम्भवतः सर्वाधिक बुनियादी और मौलिक था। वोलोशिनोव (एन.वाई. मार्र की 'क्लास रिडक्शनिस्ट' पद्धति के विपरीत) भाषा के वर्गचरित्र के सिद्धान्त को नहीं मानते थे, न ही उसे अधिरचना का अंग मानते थे। वह भाषा को एक सामाजिक-विचारधारात्मक परिघटना मानते थे, पर भाषाई समुदायों के बीच के भेद को वह वर्ग-विभेद का सम्पाती नहीं मानते थे क्योंकि विभिन्न वर्ग एक ही भाषा का इस्तेमाल करते हैं। उनकी महत्त्वपूर्ण स्थापना यह थी कि वर्ग समाज में भाषा स्वयं वर्ग-संघर्ष का एक क्षेत्र बन जाती है, या यूँ कहें कि स्वयं भाषा के भीतर वर्ग-संघर्ष जारी रहता है। न्गूगी के पहले मार्क्सवादी भाषाशास्त्र ने भी इस प्रश्न पर सुसंगत और सांगोपांग ढंग से विचार नहीं किया था कि उपनिवेशवादियों ने किस प्रकार शिक्षा और संस्कृति के माध्यम के तौर पर, अपनी भाषा को उपनिवेशों की जनता पर लादते हुए, भाषा के मानसिक-बौद्धिक-सांस्कृतिक उपनिवेशन के उपकरण के तौर पर, राजनीतिक वर्चस्व (हेजेमनी) क़ायम करने के एक उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया। इसी भाषा में शिक्षा पाने वाले मध्यवर्ग का बड़ा हिस्सा औपनिवेशिक प्रशासनिक तन्त्र का कल-पुर्जा, उसके प्रति निष्ठावान था और जन-विरोधी था। इस शिक्षित मध्यवर्ग का जो व्यापक आम संस्तर राष्ट्रीय भावनाओं से प्रभावित हुआ और जनसमुदाय के साथ राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्षों का भागीदार बना, वह भी उपनिवेशवादियों की आरोपित भाषा में शिक्षित होने और उसी भाषा के जरिए सांस्कृतिक प्राणी बनने के नाते आम मेहनतक़श जनता से दूर था, उसके साथ उसका परस्पर अविश्वास का रिश्ता था। इसी मध्यवर्ग के भीतर से अफ़्रीका का नया राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग विकसित हुआ था, जिसने उग्र मुक्ति संघर्षों के बाद सत्ता हासिल की। लेकिन सत्ता हासिल करते ही इस बुर्जुआ वर्ग का राष्ट्रीय चरित्र तेज़ी से क्षरित-विघटित हुआ और जनता से दूरी तेज़ी से बढ़ी। यह देशी बुर्जुआ वर्ग भी हर बुर्जुआ वर्ग की तरह एक शोषक वर्ग था और सत्तासीन होने के बाद इसका नग्न रूप सामने आना ही था। साम्राज्यवादी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक पिछड़े देश का बुर्जुआ वर्ग न तो

विश्व-पूँजीवाद से निर्णायक विच्छेद कर सकता था, न ही बुर्जुआ जनवाद का व्यापक सामाजिक-आर्थिक आधार तैयार कर सकता था। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना पड़ा कि एक साम्राज्यवादी देश की प्रत्यक्ष गुलामी के बजाय कई साम्राज्यवादी देशों से पूँजी आमन्त्रित करने (और मोलतोल करने) की देशी बुर्जुआ वर्ग को छूट मिल गयी, पूँजीवादी विकास हुआ, लेकिन जनसमुदाय का शोषण-उत्पीड़न न सिर्फ़ जारी रहा, बल्कि उसका तन्त्र और कार्यप्रणाली और अधिक संश्लिष्ट हो गयी। एक छोटा-सा शिक्षित निम्न बुर्जुआ अभिजातों का संस्तर था, जो शासन-प्रशासन और शिक्षा-संस्कृति के तन्त्र पर क़ाबिज़ था। इसकी कार्य संस्कृति और जीवन-शैली कमोबेश औपनिवेशिक बौद्धिक तबके जैसी ही थी। इन्हीं के बीच से आने वाले नेता, नौकरशाह और अभिजात बुद्धिजीवी आपादमस्तक भ्रष्टाचार में डूबे थे और अफ़्रीका सहित सभी उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में बुर्जुआ जनवाद का प्रहसनात्मक परिदृश्य सामने था। इस नये बुर्जुआ वर्ग और मध्यवर्गीय अभिजातों को भी जनता को शासन-प्रशासन के "अन्दरूनी रहस्यों" से दूर रखना था, इनको भी आन्तरिक मानसिक उपनिवेशन और राजनीतिक वर्चस्व के उपकरण के रूप में शिक्षा, संस्कृति और भाषा का इस्तेमाल करना था और इन्हें भी अपने सांस्कृतिक आभिजात्य और विशेषाधिकारों के द्वीप को जनसमुदाय से सुरक्षित एवं अछूता रखना था। इसीलिए नये शासक वर्ग ने भी अंग्रेज़ी/फ़्रेंच जैसी उपनिवेशवादी शासकों की भाषा को एवं औपनिवेशिक काल की शिक्षा प्रणाली एवं संस्कृति की विरासत को (कुछ रंगरोगन और पैबन्दसाज़ी के साथ) बरक़रार रखा। आज भूमण्डलीकरण के दौर में जब एक विश्वभाषा के रूप में अंग्रेज़ी की स्वीकार्यता की बातें की जा रही है तो इसके पीछे भी एक वस्तुगत आवश्यकता की विवशता नहीं, बल्कि पश्चिम के वर्चस्व की स्वीकार्यता बुनियादी बात है।

न्गूगी ने साम्राज्यवाद और क्रान्ति, नस्लवादी विचारधारा, साहित्य में नस्लवाद, राष्ट्रीय संस्कृति के लिए शिक्षा, स्कूलों में साहित्य का अध्ययन, अफ़्रीकी साहित्य के विकास में बुद्धिजीवियों की भूमिका और अफ़्रीकी साहित्य की भाषा आदि विषयों पर विपुल मात्रा में लिखा है। ये सभी प्रश्न भारतीय उपमहाद्वीप के बुद्धिजीवियों और जागरूक जनसमुदाय के लिए भी जीवन्त-ज्वलन्त प्रश्न हैं।

●

केन्या के किआम्बु जिले में गिकुयू जनजाति के एक परिवार में 1938 में जन्मे न्गूगी का पूरा परिवार उपनिवेशवाद-विरोधी माऊ-माऊ सशस्त्र जनविद्रोह के ताप से प्रभावित हुआ था। उनका सौतेला भाई उसमें मारा गया और माँ को औपनिवेशिक पुलिस ने दारुण यन्त्रणा दी। 1955-59 के दौरान अलायंस हाई स्कूल में पढ़ने के बाद न्गूगी उगाण्डा की राजधानी कम्पाला चले गये। वहाँ उन्होंने मैकरेरे यूनिवर्सिटी कॉलेज से 1964 में अंग्रेज़ी भाषा-साहित्य में स्नातक उपाधि हासिल की। कम्पाला में पढ़ते समय ही उनके पहले नाटक 'दि ब्लैक हरमिट' का मंचन हुआ और इसे काफ़ी सराहा गया। 1962 में इसका पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ। 1963 में साहित्य में अपना अध्ययन जारी रखने के लिए ब्रिटेन के लीड्स विश्वविद्यालय जाने से पहले न्गूगी ने छह महीने तक नैरोबी के एक अख़बार 'डेली नेशन' के लिए बतौर पत्रकार काम किया।

लीड्स के छात्र-जीवन के दौरान ही न्गूगी का पहला उपन्यास 'वीप नॉट, चाइल्ड' 1964 में प्रकाशित हुआ। यह किसी पूर्वी अफ़्रीकी व्यक्ति द्वारा अंग्रेज़ी में लिखा गया पहला उपन्यास था। 'वीप नॉट, चाइल्ड' की पृष्ठभूमि माऊ-माऊ सशस्त्र जनविद्रोह की है। यह समय था, जब पूरे अफ़्रीकी महाद्वीप में जनमुक्ति संघर्ष का ज्वार शिखर पर था। अफ़्रीकी साहित्य-कला-संस्कृति में भी राष्ट्रीय नवजागरण की लहर उभार पर थी। न्गूगी के पहले उपन्यास ने ही उन्हें समूचे पूर्वी अफ़्रीका के चर्चित एवं स्थापित लेखकों की कतार में ला खड़ा किया। 1965 में डकार संस्कृति समारोह (सेनेगल) में इस उपन्यास के लिए न्गूगी को अश्वेत कला पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

1963 में केन्या पर ब्रिटिश आधिपत्य का खात्मा हुआ। लगभग एक दशक के जनसंघर्षों के बाद उसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता की औपचारिक घोषणा की गयी। 1965 में केन्या लौटने के बाद न्गूगी विभिन्न स्कूलों में अध्यापन करते हुए खाली समय में लेखन-कार्य करते रहे। 1967 से लेकर जनवरी 1969 तक वे नैरोबी यूनिवर्सिटी के अंग्रेज़ी विभाग में प्रवक्ता रहे। फिर एक छात्र हड़ताल के दौरान प्रशासन का विरोध करते हुए उन्होंने इस्तीफ़ा दे दिया। 1970-71 के दौरान उन्होंने नॉर्थ वेस्ट यूनिवर्सिटी, इलिनॉयस में कुछ दिनों तक अफ़्रीकी साहित्य पढ़ाया और फिर नैरोबी यूनिवर्सिटी लौट आये जहाँ उन्हें अंग्रेज़ी विभाग का अध्यक्ष बना दिया गया। इस पद पर वे 1977 तक रहे।

1965 में न्गूगी का दूसरा उपन्यास 'दि रिवर बिटवीन' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि में भी माऊ-माऊ जनविद्रोह मौजूद है। इसमें गिकुयू पारिवारिक जीवन एवं परिवेश पर जनविद्रोह के प्रभाव की तथा ग्रामीण गिकुयू समाज पर स्वतन्त्र स्कूल आन्दोलन के आमूलगामी और उद्वेलनकारी प्रभाव का प्रामाणिक ऐतिहासिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। न्गूगी के तीसरे उपन्यास 'ए ग्रेन ऑफ ह्वीट' (1967) पर फ़्राज फ़ैनन टाइप मार्क्सवाद का स्पष्ट प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। इसकी कहानी माऊ माऊ जनविद्रोह के समय से लेकर केन्या

की स्वतन्त्रता की पूर्वबेला तक के समय को अपने कलेवर में समेटती है। जैसा कि न्गूगी ने स्वयं लिखा है, "यह समय (आज़ादी मिलने से ऐन पहले का समय)घनघोर कटुता का समय था। अंग्रेज़ों से लड़ने वाले किसान अब देख रहे थे कि उन सभी चीज़ों को, जिनके लिए वे लड़े, उठाकर एक किनारे रख दिया गया है।" यही समय था जब न्गूगी शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में उपनिवेशवाद के प्रभाव और मानसिक-उपनिवेशन में विदेशी भाषा के प्रभाव को न केवल महसूस कर रहे थे, बल्कि उसका गहन अध्ययन-विश्लेषण कर रहे थे। उन्होंने उपनिवेशवादियों द्वारा ईसाइयत के राजनीतिक-सांस्कृतिक इस्तेमाल पर ग़ौर किया। इन सबका परिणाम था कि उन्होंने नैरोबी विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग को बदलकर अफ़्रीकी भाषाओं और साहित्य के विभाग की स्थापना के लिए आन्दोलन चलाया और इसमें उन्हें सफलता भी मिली। इसी दौरान अपना अंग्रेज़ी ईसाई नाम जेम्स न्गूगी को बदलकर (क्योंकि वे उसे एक औपनिवेशिक प्रभाव मानते थे) गिकुयू जातीय परम्परा का नाम न्गूगी वा थ्योंगो अपना लिया। अब न्गूगी ने अंग्रेज़ी के अतिरिक्त गिकुयू और स्वाहिली में भी लिखने की शुरुआत की। 1977 में अपने चौथा उपन्यास 'पेटल्स ऑफ ब्लड' के बाद तो उन्होंने यह निर्णय ले लिया कि अब वे अपना सारा सृजनात्मक लेखक गिकुयू भाषा में ही करेंगे।

1970 के दशक के मध्य तक न्गूगी के अध्ययन का विषय और आक्रमण का निशाना स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सत्तासीन वह देशी बुर्जुआ वर्ग बन चुका था जो राष्ट्रीय मुक्ति की जन आकांक्षाओं के साथ विश्वासघात करके साम्राज्यवाद के साथ अपवित्र गठबन्धन कर रहा था। उनके अध्ययन का दायरा व्यापक था जिसमें उत्तर-औपनिवेशिक सत्ता की प्रकृति, सामाजिक संरचना, भाषा, संस्कृति और शिक्षा के क्षेत्र में साम्राज्यवादी मूल्यों, नीतियों एवं ढाँचे के देशी बुर्जुआ वर्ग द्वारा आत्मसात्करण तथा सांस्कृतिक प्रतिरोध के आयामों एवं रूपों पर विमर्श शामिल था। उनके इन विचारों को न केवल वैचारिक लेखन में, बल्कि सर्जनात्मक लेखन में भी स्पष्टत: लक्षित किया जा सकता है। 1976 में उन्होंने विश्वविद्यालय के अपने एक सहकर्मी मिसेरे थिए म्युगो के साथ मिलकर 'दि ट्रायल ऑफ़ देदॉन किमाथी' नामक नाटक लिखा। किमाथी माऊ माऊ विद्रोह का नेता था, जिसे ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासकों ने 1957 में फाँसी दे दी थी। इस नाटक का मंचन जब नेशनल थियेटर में होना था, उसी समय युनेस्को का आम सम्मेलन नैरोबी में होने वाला था। थियेटर के यूरोपीय प्रबन्धकों ने इसका मंचन रोकने के लिए एक माह तक के लिए थियेटर को एक अन्य नाटक के लिए बुक कर दिया। केन्या की सरकार भी नहीं चाहती थी कि माऊ-माऊ विद्रोह के नायक और मुक्ति संघर्ष के आदर्शों-स्वप्नों की याद दिलाकर प्रकारान्तर से सत्तारूढ़ देशी बुर्जुआ वर्ग के ऐतिहासिक विश्वासघात को दर्शाया जाये। नतीजा यह हुआ कि न्गूगी की प्रताड़ना का दौर शुरू हो गया। बड़ी मुश्किल से चार रातों के लिए नाट्य प्रदर्शन की इजाज़त के बाद नाटक के शो हुए तो उसे अपार लोकप्रियता मिली। फिर न्गूगी को नैरोबी स्थित क्रिमिनल इन्वेस्टिगेशन डिपार्टमेण्ट के हेडक्वार्टर्स में बुलाकर उनसे पूछताछ की गयी और धमकियाँ दी गयीं। इस समय तक न्गूगी देश के शीर्षस्थ बुद्धिजीवियों में गिने जाने लगे थे, पर यह प्रतिष्ठा उन्हें शासकीय प्रताड़ना से न बचा सकी।

1977 में 'पेटल्स ऑफ़ ब्लड' के प्रकाशन के बाद न्गूगी के लिए आतंक के काले दिनों की शुरुआत हो गयी। संरचना और औपन्यासिक कला की दृष्टि से न्गूगी का यह वृहद् उपन्यास संश्लिष्ट है और इसकी गणना सर्वश्रेष्ठ अफ़्रीकी उपन्यासों में की जाती है (कुछ आलोचक तो इसे पहले स्थान पर रखते हैं)। यह उपन्यास अपने विशद् आख्यान के ज़रिये उत्तर-औपनिवेशिक केन्याई समाज की विसंगतियों को, जन समुदाय के मोहभंग की, राजनेताओं और नौकरशाही के भ्रष्टाचार की, बौद्धिक कुलीनों की जनविमुखता की और सत्तातन्त्र की निरंकुश स्वेच्छाचारिता की मुखर, तीक्ष्ण एवं प्रभावशाली आलोचना प्रस्तुत करता है। प्रकारान्तर से यह आलोचना समूचे अफ़्रीका और सभी उत्तर-औपनिवेशिक समाजों के शासक वर्ग की और सामाजिक-राजनीतिक ढाँचे की ऐतिहासिक आलोचना बन गयी है। 'पेटल्स ऑफ़ ब्लड' हत्या के लिए जेल की सज़ा भुगत रहे चार चरित्रों की कहानी के माध्यम से केन्या के राजनीतिक-सामाजिक परिदृश्य का चित्र प्रस्तुत करता है, इनमें से एक करेगा, शिक्षक और ट्रेड यूनियन ऐक्टिविस्ट है; दूसरा चरित्र मुनीरा का है जो कभी स्कूल में हेडमास्टर था; तीसरा अब्दुल्ला एक आहत भारतीय केन्याई जिसने आज़ादी की लड़ाई में भाग लिया था, और चौथा चरित्र वांजा नाम की एक भूतपूर्व वेश्या का है जो बाद में बार मेड के रूप में काम करती थी।

इसी समय न्गूगी ने सिर्फ़ गिकुयू में लिखने का निर्णय लिया और 'पेटल्स ऑफ ब्लड' के प्रकाशन के तुरन्त बाद 1977 में ही गिकुयू भाषा में न्गूगी का मिरी के साथ मिलकर लिखा गया उनका नाटक 'न्गाहिका न्देना' (जिसका अनुवाद अंग्रेज़ी भाषा में 'आइ विल मैरी व्हेन आइ विल वाण्ट' नाम से छपा और उसे विश्वव्यापी ख्याति मिली) छपा। इस नाटक में नये सत्ताधारियों की और ग्रामीण केन्या के जालिम भूस्वामियों की मुखर आलोचना थी। इसके छपते ही राजनीतिक हलकों में भूचाल-सा आ गया। "विद्रोह भड़काने वाला" घोषित करके नाटक को प्रतिबन्धित कर दिया गया। तत्कालीन उपराष्ट्रपति दानियल अराय मोई (राष्ट्रपति तब जोमो केन्याटा थे) के निर्देश पर पहले न्गूगी के घर की तलाशी ली गयी, उनके निजी पुस्तकालय को ज़ब्त कर लिया गया और फिर उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। एक वर्ष तक बिना मुकदमा चलाये न्गूगी को कामिटी मैक्सिमम सिक्योरिटी जेल में बन्द रखा गया जहाँ टॉयलेट पेपर पर उन्होंने गिकुयू भाषा का पहला आधुनिक उपन्यास 'कैटानी मुथारबा-इनी' (जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद 1980 में 'डेविल ऑन दि क्रास' नाम से प्रकाशित हुआ) लिखा। इस दौरान उन्हें नैरोबी विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर

पद से भी बर्ख़ास्त कर दिया गया। जेल से रिहाई के बाद भी न्यूगी को नौकरी वापस नहीं मिली। उनके परिवार को लगातार आतंक के साये में जीना पड़ रहा था। लेकिन न्यूगी को टूटना या झुकना गवारा नहीं था। उन्होंने अपनी मुहिम जारी रखने के लिए देश से बाहर जाने का फ़ैसला किया और वे 1980 के दशक की शुरुआत में इंग्लैण्ड चले गये।

अपने आत्मनिर्णीत निवार्सन के दौरान गिकुयू भाषा में सर्जनात्मक लेखन करने के साथ-साथ न्यूगी अंग्रेज़ी भाषा में निरन्तर धुँआधार वैचारिक लेखन भी करते रहे। अंग्रेज़ी में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक निबन्ध लेखन का मुख्य कारण यह था कि न्यूगी अपनी स्थापनाओं को दुनिया भर के प्रबुद्ध पाठकों और संस्कृतिकर्मियों-लेखकों तक पहुँचाना और उन्हें बहस-मुबाहिसे का विषय बनाना चाहते थे। न्यूगी का अब तक का प्रतिनिधि वैचारिक लेखन इन पुस्तकों में संकलित होकर प्रकाशित हुआ है : 'होम कमिंग : एस्सेज़ ऑन अफ़्रीकन ऐण्ड कैरीबियन लिटरेचर, कल्चर ऐण्ड पॉलिटिक्स' (1971), 'राइटर्स इन पॉलिटिक्स' (1981), 'एजुकेशन फ़ॉर ए नेशनल कल्चर' (1981), 'बैटल ऑफ़ ए पेन : रेज़िस्टेंस टू रिप्रेशन इन नियो-कोलोनियल केन्या' (1983), डीकालोनाइज़िंग दि माइण्ड : दि पॉलिटिक्स ऑफ़ लैंग्वेज इन अफ़्रीकन लिटरेचर' (1986), 'राइटिंग अगेंस्ट नियो-कोलोनियलिज़्म (1986), 'मूविंग दि सेण्टर्स : दि स्ट्रगल फ़ॉर कल्चरल फ़्रीडम (1993), 'पेन प्वाइण्ट्स, गनप्वाइण्ट्स ऐण्ड ड्रीम्स' (1996) और 'समथिंग टॉर्न ऐण्ड न्यू : ऐन अफ़्रीकन रेनेसाँ (2009)।

जेल में एक वर्ष गुज़ारने के दौरान न्यूगी ने एक आत्मकथात्मक कृति 'डिटेण्ड : ए राइटर्स प्रिज़न डायरी' भी लिखी थी जो 1981 में प्रकाशित हुई। गिकुयू भाषा में न्यूगी का दूसरा उपन्यास था 'मातिगारिमा न्जीरूंगी', जिसका अर्थ है : 'देशभक्त, गोलियाँ जिन्हें मार न सकीं'। यह उपन्यास 1986 में छपा और केन्याई तानाशाह डैनियल अराम मोई की हुकूमत ने इसे भयंकर विस्फोटक सामग्री जैसा महसूस किया। इस उपन्यास की कथा मातिगारी नामक व्यक्ति के इर्द-गिर्द घूमती है जो कुछ समय तक एक पूर्वी अफ़्रीकी जंगल में रहने के बाद बिछुड़े हुए परिवार से मिलने के लिए घर वापस लौट आता है। रास्ते में वह उत्पीड़नकारी राजनीतिक परिवेश का शिकार होता है और गिरफ़्तार करके जेल भेज दिया जाता है। लेकिन वह वहाँ से भाग निकलता है और शान्ति के लिए अपनी मुहिम जारी रखता है। स्थितियाँ उसे एक मानसिक चिकित्सालय तक पहुँचा देती हैं, पर वहाँ से भी वह भाग निकलता है। अनुभव मातिगारी को इस नतीज़े पर पहुँचाते हैं कि एक सशस्त्र जन-उभार ही उसके देश में न्याय के शासन की स्थापना का एकमात्र रास्ता है। इस उपन्यास ने केन्या में उथल-पुथल पैदा कर दिया। अधिकारियों ने तो कुछ समय के लिए यक़ीन कर लिया कि मातिगारी एक वास्तविक व्यक्ति है और उन्होंने उसकी तलाश भी शुरू कर दी।

1995 में न्यूगी ने बच्चों के लिए दो क़िताबें लिखीं 'न्जाम्बा नेने ऐण्ड दि फ्लाइंग बस' और 'न्जाम्बा नेने'ज़ पिस्टल।' ये पुस्तकें अफ़्रीका के अतिरिक्त पश्चिमी दुनिया में भी काफ़ी लोकप्रिय हुईं। 1992 में न्यूगी न्यूयॉर्क विश्वविद्यालय में एरिक मारिया रेमार्क चेयर पर नियुक्त हुए और तुलनात्मक साहित्य एवं 'परफ़ॉर्मेंस स्टडीज़' के प्रोफ़ेसर के रूप में शिक्षण कार्य करने लगे। इस समय वे कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में 'लेखन एवं अनुवाद के अन्तरराष्ट्रीय केन्द्र' के निदेशक के तौर पर काम करने के साथ ही अंग्रेज़ी और तुलनात्मक साहित्य के प्रोफ़ेसर की ज़िम्मेदारी भी सम्हाल रहे हैं।

डैनियल अराय मोई की तानाशाह सत्ता के पतन के बाद अपना निर्वासन समाप्त करके न्यूगी 8 अगस्त 2004 को दो दशकों से भी अधिक समय बाद केन्या लौटे। यह वापसी पूर्वी अफ़्रीका के एक माह लम्बे उनके दौरे का हिस्सा थी। 11 अगस्त को उनके अपार्टमेण्ट में कुछ गुण्डे घुस आये। न्यूगी का कम्प्यूटर और पैसे लूटने के साथ ही उन्होंने उनके साथ मारपीट की और उनकी पत्नी के साथ बलात्कार किया। उस समय यह चर्चा आम थी कि यह घटना सत्ता-प्रायोजित थी। इस घटना के बाद की स्थितियों से भी साफ़ हो गया कि केन्या की चुनी गयी बुर्जुआ सरकार को भी न्यूगी का व्यवस्था-विरोधी स्वर बरदाश्त नहीं और उसकी स्थिति पहले की तानाशाही से ज़्यादा भिन्न नहीं है। उस घटना के बाद न्यूगी अमेरिका वापस लौट गये और तबसे वहीं रह रहे हैं।

2004 में गिकुयू भाषा में न्यूगी का उपन्यास 'मुरोगी वा कागोगा' लगभग दो दशक बाद प्रकाशित होने वाली उनकी नयी औपन्यासिक कृति थी। फिर इसका गिकुयू से अंग्रेज़ी में उन्होंने स्वयं अनुवाद किया जो 2006 में 'विज़र्ड ऑफ़ दि क्रो' नाम से प्रकाशित हुआ।

न्यूगी वा थ्योंगो व्यवस्था विरोधी, जनपक्षधर लेखकों की उस गौरवशाली परम्परा की कड़ी हैं, जो हर क़ीमत चुकाकर भी बुर्जुआ सत्ता प्रतिष्ठानों और सामाजिक ढाँचे के अन्तर्निहित अन्यायी चरित्र को उजागर करते रहे, जिन्होंने आतंक के आगे कभी घुटने नहीं टेके और जनता का पक्ष कभी नहीं छोड़ा। कला-साहित्य के क्षेत्र में आज सर्वव्याप्त अवसरवाद के माहौल में उनका जीवन और कृतित्व अनवरत प्रज्जवलित एक मशाल के समान है। उपनिवेशवाद और समकालीन साम्राज्यवाद की सांस्कृतिक नीति और भाषानीति का तथा उत्तर-औपनिवेशिक समाजों के शासक बुर्जुआ वर्ग की राजनीति, अर्थनीति और संस्कृति का उनका विश्लेषण अपनी कुशाग्रता और मौलिकता की दृष्टि से अनन्य है। यह बहुत अच्छी बात है कि न्यूगी उसी अनन्य वैचारिक निष्ठा के साथ आज हमारे बीच मौजूद हैं और निरन्तर सृजनरत् हैं।

श्रद्धांजलि

जनता का इतिहास लेखक : हावर्ड ज़िन

इतिहास का निर्माण जनता करती है लेकिन स्कूलों से लेकर विश्वविद्यालयों तक में पढ़ायी जाने वाली इतिहास की किताबों में जनता की भूमिका प्रायः नदारद रहती है। शासक वर्ग हमेशा अपने नज़रिये से इतिहास लिखवाने की कोशिश करते हैं और उसे ही प्रचलित और स्वीकार्य बनाने के लिए अपनी पूरी ताक़त लगा देते हैं। जनता के पक्ष से लिखी गयी इतिहास की पुस्तकें अक्सर एक छोटे दायरे तक सीमित रह जाती हैं। लेकिन कुछ इतिहासकार इस दायरे को तोड़कर इतिहास की जनपरक व्याख्या को पाठकों के बहुत बड़े समुदाय तक ले जाने में सफल रहे हैं। हावर्ड ज़िन, जिनका इसी वर्ष 27 जनवरी को निधन हो गया, इन्हीं में से एक थे।

हावर्ड ज़िन की किताब 'ए पीपुल्स हिस्ट्री ऑफ़ यूनाइटेड स्टेट्स' (अमेरिका का जन इतिहास) को दुनियाभर में दसियों लाख लोगों ने पढ़ा और इसने ज़बर्दस्त राजनीतिक और बौद्धिक असर छोड़ा।

हावर्ड ज़िन महज़ एक इतिहासकार ही नहीं बल्कि प्रबल जनपक्षधर लेखक, नाटककार, फिल्मकार और एक्टिविस्ट भी थे। उनका लेखन और पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद के प्रति उनका आजीवन सक्रिय विरोध दुनियाभर में बुद्धिजीवियों तथा मानव मुक्ति के संघर्ष में लगे लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा।

उनका जन्म अमेरिका के ब्रुकलिन में 1922 में हुआ था। उनके माता-पिता दोनों ही कारखानों में काम करने वाले मज़दूर थे। जिस दौर में उन्होंने किशोरवस्था में कदम रखा वह महामन्दी और व्यापक मज़दूर आन्दोलन का दौर था। एक मज़दूर रैली में पड़ी पुलिस की लाठी की चोट और उनके पिता द्वारा भेंट की गयी चार्ल्स डिकेंस की किताबों ने उन पर गहरा असर डाला। दूसरे विश्वयुद्ध में ज़िन ने बमवर्षक विमान

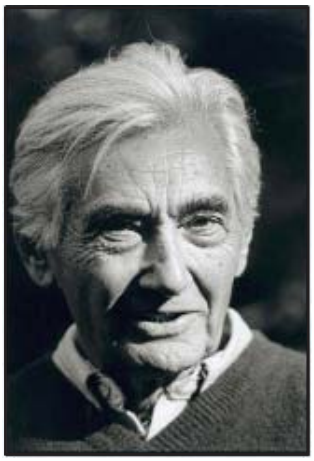

हावर्ड ज़िन (1922-2010)

के पायलट के तौर पर हिस्सा लिया। युद्ध के अन्तिम दिनों में उनके विमान ने फ़्रांस के एक शहर पर नापाम बम गिराया। यह इस घातक रसायन का पहला सैन्य इस्तेमाल था। अमेरिका विश्वयुद्ध के बहाने इस नये हथियार को परखना चाहता था। बम से बहुत से जर्मन सैनिक और करीब 1000 फ़्रांसीसी नागरिक मारे गये। इस घटना ने उनके दिलो-दिमाग को झकझोरकर रख दिया और उन्हें साम्राज्यवादी युद्ध का कट्टर विरोधी बना दिया। वियतनाम युद्ध का उन्होंने पुरज़ोर विरोध किया और इराक पर अमेरिकी हमले के खिलाफ़ लिखने और बोलने के साथ-साथ सड़कों पर उतरे।

नागरिक अधिकार आन्दोलन के मुखर समर्थन के चलते ज़िन को अपनी पहली अकादमिक नौकरी से हाथ धोना पड़ा। 1963 में उन्हें अश्वेत लड़कियों के स्कूल में शिक्षक की नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया। बाद में वे बोस्टन युनिवर्सिटी से जुड़े और 1988 में रिटायर होने तक वहाँ पढ़ाते रहे।

इतिहासकार के रूप में हावर्ड ज़िन ने पाँच दशकों के दौरान अनेक पुस्तकें, निबन्ध और लेख लिखे। लेकिन उन्हें सबसे अधिक प्रसिद्धि मिली 1980 में प्रकाशित 'ए पीपुल्स हिस्ट्री ऑफ़ यूनाइटेड स्टेट्स' से। अब तक इस किताब की 20 लाख से अधिक प्रतियाँ बिक चुकी हैं। इस किताब में ज़िन ने सीधी-सादी और आम लोगों के दिलों को छूने वाली भाषा में अमेरिका के इतिहास के उन पहलुओं को लाखों पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जो उस आधिकारिक इतिहास में कभी बताये नहीं जाते, जिसमें अमेरिका की राजनीतिक और आर्थिक सत्ता पर काबिज़ अभिजात वर्गों की कोई आलोचना नहीं होती।

ज़िन ने अमेरिका के सत्ता प्रतिष्ठान द्वारा मुनाफ़े के लिए मचायी गयी लूट और बर्बरता का पर्दाफ़ाश किया और अमेरिकी इतिहास में उत्पीड़ित वर्गों – मज़दूरों, ग़रीबों, मूल निवासियों, काले लोगों, स्त्रियों और प्रवासी मेहनतकशों के राजनीतिक और सामाजिक संघर्षों को किताब के पन्नों पर जीवन्त कर दिया। उन्होंने उत्पीड़ितों के प्रति अपनी सहानुभूति को छिपाया नहीं। वे कहते थे, *''टकरावों से भरी ऐसी दुनिया में, शिकार होने वालों और वधिकों की दुनिया में, सोचने वाले लोगों का फ़र्ज़ है कि वे, अल्बेयर कामू के शब्दों में, वधिकों के पक्ष में न खड़े हों।''*

उनकी किताब की शुरुआत 1492 में क्रिस्टोफर कोलम्बस के अमेरिका में आगमन और मूल निवासियों के बर्बर जनसंहार से होती है। अगले अध्यायों में ज़िन विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक संघर्षों से गुज़रते हुए अमेरिकी इतिहास का ब्योरा प्रस्तुत करते हैं। पुस्तक के अन्तिम अध्याय में वे भविष्यवाणी करते हैं कि अन्ततः मज़दूरों की बग़ावत शासक वर्गों की जकड़बन्दी को उखाड़ फेंकेगी। वे बताते हैं कि अमेरिका और दुनियाभर के प्राकृतिक संसाधनों तथा श्रमशक्ति की लूट की बदौलत समाज के एक हिस्से को

छोटे-छोटे टुकड़े फेंककर शासक वर्गों ने अपने प्रति वफ़ादार एक बड़ा वर्ग पैदा कर लिया है। सैनिक और पुलिस, शिक्षक और पत्रकार, प्रशासक और सामाजिक कार्यकर्ता, तकनीकी और वैज्ञानिक कर्मचारी, डॉक्टर, वकील, कारखानों के मज़दूरों की अच्छी तनख्वाह पाने वाली आबादी आदि एक बहुत बड़ी जमात ऐसे लोगों की है जो इस व्यवस्था को टिकाये रखने में मदद करते हैं और ऊपरी जमातों तथा सबसे उत्पीड़ित निचले वर्गों के बीच बफ़र का काम करते हैं।

हावर्ड ज़िन के इतिहास लेखन की अपनी कमज़ोरियाँ भी हैं। प्राय: वे इतिहास लेखन की वैज्ञानिक भौतिकवादी पद्धति के बजाय अनुभववादी पद्धति का इस्तेमाल करते हैं। लेकिन उनका सबसे बड़ा योगदान यह है कि वे अमेरिकी शासक वर्गों के अपराधों का पर्दाफ़ाश करते हैं, उत्पीड़ित वर्गों के प्रतिरोध का ब्योरा देते हैं और इतिहास को आगे ले जाने वाली शक्ति के रूप में मज़दूर वर्ग की सही-सही शिनाख़्त करते हैं।

'आह्वान' के पाठकों के लिए हम यहाँ उनके एक अप्रकाशित साक्षात्कार के कुछ अंश प्रस्तुत कर रहे हैं।

– सम्पादक

''शिक्षा सबसे समृद्ध और सजीव तब होती है जब वह विश्व के नैतिक संघर्ष की वास्तविकता का सामना करती है''

हावर्ड ज़िन का एक अप्रकाशित साक्षात्कार

अपनी आने वाली किताब 'पोलिटिकल अवेकनिंग्स: कन्वर्सेशन्स विद ट्वेंटी ऑफ़ द वर्ल्ड्स मोस्ट इन्फ्लुएंशियल राइटर्स, पॉलिटिशियन्स एंड एक्टिविस्ट्स' (राजनीतिक तौर पर जागृत होना : विश्व के बीस सबसे प्रभावशाली लेखकों, राजनीतिज्ञों, और कार्यकर्ताओं से बातचीत) के लिए ***हैरी क्राइस्लर*** *ने इतिहासकार हावर्ड ज़िन के साथ यह बातचीत की थी। 2001 में किये गये एक साक्षात्कार के इन अंशों में ज़िन एक रैडिकल चिन्तक के रूप में अपने विकास के बारे में बताते हैं।*

हैरी क्राइस्लर : कॉलेज जाने से पहले, आप गोदी में काम करते थे और टाइम्स स्क्वेयर पर होने वाले एक विरोध प्रदर्शन में आप शामिल हुए थे जिस पर पुलिस ने आक्रमण कर दिया था। जिन घटनाओं ने आपकी सोच बदल दी, यह उनमें से एक थी। अपने इतिहास लेखन में आप कई बार इस तर्क का इस्तेमाल करते हैं कि लोगों के साथ होने वाली घटनाएँ उन्हें बदल सकती हैं और तदनुरूप व्यवहार करने के लिए मजबूर कर सकती हैं।

हावर्ड ज़िन : यह सही है। कई बार कोई एक बेहद जीवन्त अनुभव ही काफ़ी होता है। बेशक इसके पीछे कभी भी केवल एक ही जीवन्त अनुभव नहीं होता, बल्कि वह एक ऐसा अनुभव होता है जो पहले से बनी अर्द्धसचेत समझदारी के बाद घटित होता है और उस घटना के कारण वह समझदारी ठोस शक्ल ले लेती है। मुझे लगता है मेरे साथ ऐसा ही हुआ जब मैं सत्रह साल का था, जब एक पुलिसवाले ने मुझे लाठी मारकर बेहोश कर दिया था। मैं सुबह उठकर सोचता था कि भगवान यह अमेरिका है, जहाँ बेशक बुरे लोग भी हैं और अच्छे लोग भी हैं, लेकिन सरकार निष्पक्ष है। पर जब मैंने यह देखा, कि नहीं, पुलिस निष्पक्ष नहीं है, सरकार निष्पक्ष नहीं है, तो इस विचार ने मेरी सोच को बदलकर रख दिया।

हैरी : युद्धविरोधी आन्दोलन से आपका जुड़ाव कुछ हद तक एक सैनिक के रूप में आपके अनुभव के कारण था। युद्ध में बम गिराने के अन्तिम अभियानों में से एक में, आप एक बमवर्षक विमान के पायलट थे जिसको रोयान नाम के एक निर्दोष फ्रांसीसी गाँव पर नापाम बम के सबसे शुरुआती इस्तेमाल की जिम्मेदारी दी गयी थी। हमें उस अनुभव के बारे में बताएँ और उससे आपने क्या सीखा, और किस प्रकार उसने युद्धविरोधी आन्दोलन में आपकी सक्रियता और युद्ध के बारे में आपके सामान्य दृष्टिकोण को प्रभावित किया।

हावर्ड : मैं वायु सेना में भर्ती हुआ था। मैंने स्वेच्छा से ऐसा किया। मैं उत्साही बमवर्षक था। मेरे लिए यह बहुत सीधी-सी बात थी : यह फासीवाद के ख़िलाफ़ युद्ध था। वे बुरे लोग थे; हम अच्छे लोग थे। एक चीज जो मैंने उस अनुभव से सीखी वह यह थी कि जब आप शुरू में ही उन्हें बुरे लोग और स्वयं को अच्छे लोग मान लेते हैं, तो अगर आप सेना में हैं तो एक बार कोई निर्णय करने के बाद, आपको और अधिक नहीं सोचना पड़ता। उसके बाद सबकुछ जायज़ होता है। उसके बाद आप कुछ भी कर सकते हैं यहाँ तक कि अत्याचार भी। सिर्फ़ इसलिए क्योंकि आपने बहुत पहले यह निर्णय कर लिया था कि आपका पक्ष सही है। आप बार-बार प्रश्न नहीं पूछते रहते। आप प्रश्न पूछने वाले योसारियन* की तरह नहीं होते।

तो मैं एक उत्साही बमवर्षक था। युद्ध अब समाप्त होने वाला था, ऐसा लग रहा था – समाप्त होने के कुछ सप्ताह पहले। सभी जानते थे कि यूरोप में युद्ध खत्म होने वाला था। हमें नहीं लगता था कि हम बमबारी करने के लिए और मिशन पर जायेंगे। उसका कोई

* जोसेफ़ हेलर के उपन्यास 'कैच-22' का एक पात्र जोसेफ़ योसारियन जो बमवर्षक पायलट है और युद्ध तथा सैनिक के जीवन को लेकर सवाल उठाता है। –सं.

कारण नहीं था। हम पूरा फ्रांस पार करके जर्मनी में प्रवेश कर चुके थे। रूसी और अमेरिकी सेनाएँ एल्ब नदी पर मिल चुकी थीं। बस कुछ हफ्तों की बात थी। और ऐसे में एक दिन तड़के हमें जगाया गया और कहा गया कि हमें एक मिशन पर जाना है। तथाकथित इण्टेलिजेंस के लोग, जो जहाज में जाने से पहले हमें चीजों के बारे में बताते हैं, उन्होंने बताया कि हमें फ्रांस के अटलाण्टिक तट पर बोर्दो के निकट एक छोटे से कस्बे रोयान पर बम गिराने हैं क्योंकि वहाँ कई हज़ार जर्मन सैनिक मौजूद हैं। वे कुछ कर नहीं रहे हैं। किसी प्रकार की परेशानी उत्पन्न नहीं कर रहे हैं। वे युद्ध के समाप्त होने का इन्तज़ार कर रहे हैं। और हम उन पर बम गिराने जा रहे हैं।

बाद में जब मैं इसके बारे में सोचता था तो जो चीज मुझे बहुत दिलचस्प लगी वह यह थी कि ब्रीफिंग कक्ष में मैंने यह क्यों नहीं कहा, "हम ये क्या कर रहे हैं? हम ये क्यों कर रहे हैं? युद्ध समाप्त होने वाला है, और इसकी कोई ज़रूरत नहीं है।" मुझे यह सूझा ही नहीं। आज, मैं समझता हूँ कि अत्याचार किस तरह किये जाते हैं। मिलिटरी वालों का दिमाग किस तरह काम करता है। आपको बस यह सिखाया जाता है कि आप बतायी गयी प्रक्रियाओं का यान्त्रिक ढंग से पालन करें। इसलिए, हम रोयान पर बमबारी करने निकल पड़े और हमें बताया गया कि इस बार हम एक अलग प्रकार का बम गिरायेंगे। सामान्य विध्वंसक बमों की जगह हमें तीन हज़ार पौंड के गैसोलीन की जेली के कनस्टर गिराने थे जिनमें नापाम भरा था। यूरोपीय युद्ध में यह नापाम का पहला इस्तेमाल था। हमने अपना काम किया। हमने जर्मन सैनिकों को मार डाला और साथ ही फ्रांसीसी शहर रोयान को भी तबाह कर दिया। "दोस्ताना गोलीबारी।" (जैसा कि आजकल कहा जाता है।) बमबारी यही करती है।

आज तक, जब भी मैं देश के नेताओं को यह कहते सुनता हूं, "हाँ, यह सटीक बमबारी है और हम बहुत अधिक सावधानी बरत रहे हैं, हम केवल मिलिटरी पर बम गिरा रहे हैं" – यह बकवास है। बम गिराने की तकनीक कितनी ही परिष्कृत क्यों न हो, ऐसा कोई तरीका नहीं है कि बम गिराते समय आम लोगों को हताहत होने से बचाया जा सके। युद्ध के बाद ही मैंने इस घटना पर वापस विचार किया। वास्तव में, हिरोशिमा और नागासाकी के बाद ही मैंने उसपर विचार करना शुरू किया। क्योंकि हिरोशिमा और नागासाकी के बाद, जिसका उस समय तमाम लोगों की तरह मैंने भी पहले स्वागत किया था – "अरे हाँ, अब तो युद्ध समाप्त हो जायेगा" – और फिर मैंने जॉन हर्शी की किताब *हिरोशिमा* पढ़ी, और पहली बार बम गिराने के मानवीय दुष्परिणामों का मुझे अहसास हुआ और इस तरह हुआ जैसा मैंने कभी सोचा नहीं था। जब आप 30,000 फीट की ऊँचाई से बम गिराते हैं तो आपको लोगों की चीख-पुकार नहीं सुनाई देती। आपको खून नहीं दिखाई देता।

हैरी : इतिहास और शिक्षा के महत्व के सवाल पर आपने लिखा है, "स्पेलमैन में बिताए दिनों से मैंने जो सीखा था उसने इस बात की पुष्टि की कि शिक्षा सबसे समृद्ध और सजीव तब होती है जब वह विश्व के नैतिक संघर्ष की वास्तविकता का सामना करती है।"

हावर्ड : स्पेलमैन कॉलेज में मेरा अनुभव शिक्षा और सक्रियता के बीच अन्तरक्रिया का एक उदाहरण है। जब मेरे विद्यार्थी धरना देने, प्रदर्शन करने, और 1960 के वसन्त में गिरफ्तार होने के लिए पहली बार शहर जाते थे, तो स्पेलमैन, मोरहाउस, एटलाण्टा विश्वविद्यालय - काले कॉलेजों का समूह - के मेरे सहकर्मी कहते थे, "यह ठीक नहीं है। वे अपनी पढ़ाई का नुकसान कर रहे हैं।" एक ने एटलाण्टा कॉन्स्टीट्यूशन को यह कहते हुए पत्र लिखा कि "मुझे दुख है कि मेरे विद्यार्थी क्या-क्या कर रहे हैं; वे कक्षाएँ छोड़ रहे हैं; वे अपनी पढ़ाई छोड़ रहे हैं।" और मैं सोचता था कि यह शिक्षा का कितना दयनीय, संकीर्ण और संकुचित नजरिया है। यह सोचना कि वे किताबों में जो पढ़ेंगे उसकी तुलना दुनिया के बारे में, वास्तविकता के बारे में उनके ज्ञान से की जा सकती है। जब वे शहर से लौटेंगे, हवालात से लौटेंगे और उसके बाद जब वे लाइब्रेरी में जायेंगे, तो वे पूरे उत्साह और उत्सुकता के साथ जायेंगे जैसा पहले उनमें नहीं था।

हैरी : आप उस प्रकार के व्यक्ति हैं जो अपने मूल्यों के बारे में और अन्याय के बारे में अपनी भावनाओं को सीधे व्यक्त कर देता है। मैं चाहता हूँ कि आप बताएँ कि आपके मूल्यों और आपकी भावनाओं दोनों से जुड़ी ये ईमानदारियाँ आपके लेखन को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। क्या ऐसी चीज़ें लिखने में इससे मदद मिलती हैं?

हावर्ड : मैं जानता हूँ कि ऐसी पारम्परिक समझदारी, या जिसे मैं पारम्परिक मूर्खता कहता हूँ, मौजूद है जो यह कहती है कि यदि आप किसी चीज़ को लेकर बहुत भावुक हैं तो आप उसके बारे में ठीक ढंग से नहीं लिख सकते। कलाओं के बारे में हम मानते हैं कि भावोद्रेक उन्हें सजीव बना देता है। लेकिन हम शिक्षा में इसे सही नहीं मानते, और इसलिए हम कला और शिक्षा के बीच एक गलत विभाजन कर देते हैं। लेकिन मेरा मानना है कि ईमानदार रहने के लिए ज़रूरी है कि शिक्षा सम्बन्धी कामों के प्रति गहरी और उत्कट भावना, इतिहास के प्रति गहरी और उत्कट भावना को अभिव्यक्ति किया जाना चाहिए। मेरा मानना है कि अपनी भावनाओं के बारे में ईमानदार होने से ज़्यादा महत्वपूर्ण और कुछ भी नहीं है। वर्ना आप कुछ ऐसा प्रस्तुत कर रहे होते हैं जो दरअसल आप होते ही नहीं।

इसके साथ एक दूसरी चीज़ भी जुड़ी हुई है, और वह यह कि किसी चीज़ के बारे में गहरी और उत्कट भावना रखने से आप अपने लेखन को धारदार बनाते हैं, जिससे इसकी क्षमता बहुत बढ़ जाती है। एक तरीके से आप इस तथ्य की भरपाई करते हैं कि अन्य चीजों के बारे में लिखने वाले लोग विचारधारात्मक परिदृश्य पर हावी हैं। चूँकि आप अल्पमत की आवाज़ हैं, इसलिए आपको ज़ोर से बोलना होगा, अधिक जीवन्त ढंग से, अधिक भावोद्रेक के साथ।

अनुवादः जयपुष्प

साहित्य

लैंग्सटन ह्यूज की कविताएँ

लैंग्स्टन ह्यूज (1902-1967) के कृतित्व के प्रति अमेरिकी आलोचकों और प्रकाशकों का उपेक्षापूर्ण रवैया अमेरिकी साहित्य की दुनिया में रंगभेद का प्रतिनिधि उदाहरण है। कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, निबन्ध – ह्यूज़ ने इन सभी विधाओं में विपुल मात्रा में लिखा और उनका रचना संसार काफ़ी वैविध्यपूर्ण था, पर अंग्रेज़ी के साहित्य संसार में उसका समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ। इसका कारण महज़ इतना ही नहीं था कि ह्यूज अश्वेत थे और अश्वेतों के उत्पीड़न के मुखर विरोधी थे। इससे भी अहम कारण यह था कि वह विचारों से वामपंथी थे और इस सच्चाई को उन्होंने कभी छुपाया नहीं। इसका ख़ामियाज़ा उन्हें मैकार्थीकाल में ही नहीं बल्कि उसके बाद भी चुकाना पड़ा। लैंग्स्टन ह्यूज जीवन, संघर्ष और सृजन के सहज प्रवाह के कवि हैं। सादगी और सहज अभिव्यक्ति का सौन्दर्य उनकी कविता की शक्ति है। हिन्दी पाठक उनकी कविताओं से बहुत कम परिचित हैं क्योंकि वे हिन्दी में छिटफुट और काफ़ी कम अनूदित हुई हैं।

ह्यूज की कविताओं का विषय मुख्य रूप से मेहनतकश आदमी है, चाहे वह किसी भी नस्ल का हो। उनकी कविताओं में अमेरिका की सारी शोषित-पीड़ित और श्रमजीवी जनता की कथा-व्यथा का अनुभव किया जा सकता है। ह्यूज का अमेरिका इन सब लोगों का है – वह मेहनतकशों का अमेरिका है, वही असली अमेरिका है, जो दुनिया में अमन-चैन और बराबरी चाहता है, और तमाम तरह के भेदभाव को मिटा देना चाहता है। ह्यूज की इसी सोच ने उन्हें अन्तरराष्ट्रीय कवि बना दिया और दुनिया-भर के मुक्तिसंघर्षों के लिए वे प्रेरणा के स्रोत बन गये।

हम यहाँ लैंग्सटन ह्यूज की एक लम्बी कविता प्रस्तुत कर रहे हैं। इसका अनुवाद हिन्दी के सुपरिचित कवि और पत्रकार रामकृष्ण पाण्डेय ने किया है। गत वर्ष नवम्बर में पाण्डेयजी का अचानक निधन हो गया। जल्दी ही उनके द्वारा अनूदित ह्यूज की कविताओं का संकलन 'आँखें दुनिया की तरफ़ देखती हैं' परिकल्पना प्रकाशन से प्रकाशित होने वाला है। – सम्पादक

एक बार फिर अमेरिका वही अमेरिका बने

एक बार फिर अमेरिका वही अमेरिका बने
वही एक सपना जो वह हुआ करता था
नयी दुनिया का अगुवा
एक ठिकाना खोजता
जहाँ ख़ुद भी आज़ादी से रह सके
अमेरिका मेरे लिए कभी यह अमेरिका रहा ही नहीं
एक बार फिर अमेरिका उन स्वप्नदर्शियों का वही सपना बने
प्यार और मोहब्बत की वही ठोस महान धरती
जहाँ राजा कभी पैदा हुआ ही नहीं
और न आतंककारियों की यह साज़िश
कि किसी एक के शासन में दूसरा प्रताड़ित हो
"यह कभी मेरे लिए अमेरिका रहा ही नहीं"

जी हाँ, मेरी यह धरती ऐसी धरती बने
जहाँ आज़ादी सम्मानित न हो
झूठी देशभक्ति की मालाओं से
जहाँ सबको अवसर मिले
और जीवन मुक्त हो
और जिस हवा में हम साँस लेते हैं
वह सबके लिए एक-सी बहे

"आज़ाद लोगों की इस धरती" पर
कभी आज़ादी या बराबरी मुझे नसीब नहीं हुई
बतलाइये तो, कौन हैं आप इस अँधेरे में छिपते हुए
और कौन हैं आप सितारों से चेहरा छुपाते हुए

मैं एक ग़रीब गोरा आदमी हूँ अलगाया हुआ
मैं एक नीग्रो हूँ गुलामी का घाव खाया हुआ
मैं एक लाल आदमी हूँ अपनी ही धरती से भगाया हुआ
मैं एक प्रवासी हूँ अपनी उम्मीदों की डोर से बँधा हुआ
और हमें वही पुराना रास्ता मिलता है बेवकूफ़ी का
कि कुत्ता कुत्ते को खाये, कमज़ोर को मज़बूत दबाये

मैं ही वह नौजवान हूँ
ताक़त और उम्मीदों से लबरेज़
जकड़ा हुआ उन्हीं पुरानी ज़ंजीरों से
मुनाफ़े की, सत्ता की, स्वार्थ की, ज़मीन हथियाने की
सोना लूट लेने की
ज़रूरतें पूरी करने के उपायों को हड़पने की
काम कराने की और मज़दूरी मार जाने की
अपने लालच के लिए सबका मालिक बनने की
ख़्वाहिशों की

मैं ही वह किसान हूँ ज़मीन का गुलाम
मैं वह मज़दूर हूँ मशीन के हाथ बिका हुआ
मैं ही वह नीग्रो हूँ आप सबका नौकर
मैं ही जनता हूँ विनम्र, भूखी, निम्नस्तरीय
उस सपने के बावजूद आज भी भूखी
ओ नेताओ! आज भी प्रताड़ित
मैं ही वह आदमी हूँ जो कभी बढ़ ही नहीं पाया
सबसे ग़रीब मज़दूर जिसे वर्षों से भुनाया जाता रहा है
फिर भी मैं ही वह हूँ जो देखता रहा
वही पुराना सपना
पुरानी दुनिया का जब बादशाहों का गुलाम था
और देखा करता था इतना मज़बूत, इतना बहादुर
और इतना सच्चा सपना
जो आज भी अपने उसी दुस्साहस के साथ
गीत बनकर गूँजता है
हर एक ईंट में, पत्थर में
और हर एक हल के फाल में
जिसने अमेरिका की ज़मीन को ऐसा बना दिया है
जैसी आज वह है
सुनो, मैं ही वह आदमी हूँ
जिसने उस शुरुआती दौर में समुद्रों को पार किया था
अपने होने वाली रिहाइश की खोज में
क्योंकि मैं ही वह हूँ
जिसने आयरलैण्ड के अँधेरे तटों को छोड़ा था
और पोलैण्ड की समतल भूमि को
और इंग्लैण्ड के चरागाहों को
और काले अफ़्रीका के समुद्री किनारों से बिछुड़ा था
"एक आज़ाद दुनिया" बनाने के लिए

आज़ाद?
किसने कहा आज़ाद?
मैं तो नहीं
जी हाँ, मैं तो नहीं
वे लाखों लोग भी नहीं
जो आज भी भीख पर जीते हैं
वे लाखों हड़ताली भी नहीं
जिन्हें गोली मार दी गयी
वे लाखों लोग भी नहीं
जिनके पास कुछ भी नहीं है
हमें देने के लिए
क्योंकि सारे सपने हमने मिलकर देखे थे
और सारे गीत हमने मिलकर गाये थे
और सारी उम्मीदें हमने मिलकर सजायी थीं
और सारे झण्डे हमने मिलकर फहराये थे
और लाखों लोग हैं
जिनके पास कुछ भी नहीं है आज
सिवा उस सपने के जो अब लगभग मर चुका है

एक बार फिर अमेरिका वही अमेरिका बने
जो कि वह अब तक नहीं बन पाया है
और जो कि उसे बनना ही है
एक ऐसी धरती जहाँ हर कोई आज़ाद हो
जो हमारी धरती हो, एक ग़रीब आदमी की
रेड इण्डियन की, नीग्रो की, मेरी
अमेरिका को किसने बनवाया
किसके ख़ून-पसीने ने
किसके विश्वास और दर्द ने
किसके हाथों ने कारख़ानों में
किसके हल ने बरसात में
हमारे उस मज़बूत सपने को
फिर से जगाना होगा
चाहे जैसी भी गाली दो मुझे
ठीक है तुम चाहे जिस गन्दे नाम से मुझे पुकारो
आज़ादी का वह महान इस्पात झुकता नहीं है उनसे
जो लोगों की ज़िन्दगी में
जोंक की तरह चिपके रहते हैं
हमें अपनी धरती वापस लेनी ही होगी

अमेरिका
जी हाँ मैं दो टूक बात करता हूँ
अमेरिका कभी मेरे लिए यह अमेरिका रहा ही नहीं
फिर भी मैं क़सम खाता हूँ, वह होगा
गिरोहों की लड़ाइयों में हमारी मौत के बावजूद
बलात्कार, घूसख़ोरी, लूट और झूठ के बावजूद
हम लोग, हम सारे लोग
मुक्त करेंगे इस धरती को
इन खदानों को, इन वनस्पतियों को
नदियों को, पहाड़ों और असीम समतल भूमि को
सबको, इन महान हरित प्रदेशों के सम्पूर्ण विस्तार को
और फिर बनायेंगे अमेरिका को अमेरिका।

विश्व पटल पर

साम्राज्यवाद के 'चौधरी' अमेरिका के घर में बेरोज़गारी का साम्राज्य

• सत्यनारायण

''येस वी कैन (हाँ हम कर सकते हैं)'' का नारा लगाते हुए जब बराक ओबामा अमेरिका के राष्ट्रपति बने तो अमेरिकियों को ऐसा लगा कि बुश काल की भयंकरताओं से निजात पाने का एक रास्ता मिल गया है। बुश काल के आर्थिक संकट, अश्वेत दमन, जनवादी अधिकारों के खात्मे, मज़दूरों के शोषण-उत्पीड़न आदि से मुक्ति दिलाने वाले मसीहा के रूप में दुनियाभर के मीडिया ने ओबामा को पेश किया। लेकिन अमेरिकियों की यह आशा पल-प्रतिपल दम तोड़ती नजर आ रही है। बेरोज़गारी व भयंकर किस्म के अपराध इस पूँजीवादी दुनिया के चौधरी के स्वर्ग में ताण्डव मचा रहे हैं। अमेरिकी श्रम-विभाग के अनुसार 13 फरवरी को समाप्त हुए सप्ताह में बेरोज़गारी भत्ते के लिए दावा करने वाले लोगों की तादाद बढ़कर चार लाख 73 हजार पहुँच गई। यह इससे पहले के सप्ताह के चार लाख 42 हजार के मुकाबले 31 हजार ज़्यादा है। दुनियाभर की मेहनतकश जनता को अमेरिकी साम्राज्यवादी पूँजी की अधीनता के तहत लाकर, उनके शरीर से ख़ून की एक-एक बूँद निचोड़ लेने के बावजूद ओबामा के अमेरिका में बेरोज़गारी की दर 18.5 फीसदी पहुँच गयी है। बढ़ती बेरोज़गारी का सामना करने के लिए अमेरिका में 'स्वदेशी जागरण' चलाने की तैयारी की जा रही है। एक प्रभावशाली अमेरिकी सीनेटर रस फेनगोल्ड ने नए रोज़गार क़ानून में 'अमेरिकी माल खरीदो' संबधी प्रावधान डालने की वकालत की है।

अमेरिका का पूँजीवादी समाज भले ही इस बात पर गर्व करे कि यहाँ समृद्ध होने के लिए सबको 'समान अवसर' प्राप्त है पर यह कड़वी सच्चाई है कि डूबते बैंको के आला अफसरों को लाखों डॉलर बोनस दिया जा रहा है जबकि महीनों से बेरोज़गार आम आदमी अपनी बची-खुची पूँजी खत्म होने के बाद बदहवास घूम रहा है या फिर अपराध की ओर अग्रसर हो रहा है। घाटे का सामना करने वाले न्यूयॉर्क के सैंकड़ों वित्तीय संस्थानों और बैंकों ने सिर्फ बोनस के रूप में लगभग 20 करोड़ डॉलर अपने बड़े अफसरों को बाँटे। उदाहरण के लिए, विश्व प्रसिद्ध बैंक 'सिटी ग्रुप' में चीफ एक्ज़ीक्यूटिव विक्रम पंडित को 32 लाख डॉलर सालाना बोनस के रूप में मिले। दूसरी ओर अमेरिकी श्रम विभाग चार महीने से ज़्यादा समय तक बेरोज़गारी भत्ता नहीं देता।

बेरोज़गारी, अलगाव व मानसिक अवसाद के चलते अमेरिका में भयंकरतम अपराध लगातार बढ़ रहे हैं। अखबारों में आए दिन किसी व्यक्ति द्वारा पागलपन में आकर दर्जनों व्यक्तियों को मार देने की ख़बरें पढ़ने को मिलती है। कहने को तो ओबामा अश्वेतों के प्रतिनिधि हैं, लेकिन अश्वेतों के बीच भयंकर ग़रीबी, बेरोज़गारी व अपराध का बोलबाला है। 25 से 29 वर्ष के 9 अश्वेत नौजवानों में से एक जेल में है। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार अश्वेत परिवारों की औसत आय 6616 डॉलर, श्वेत परिवार की औसत आय 67000 डॉलर से दस गुना कम है। हकीकत यह है कि ओबामा अमेरिकी जनता के नहीं बल्कि अमेरिकी पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधि हैं। मन्दी के दौर में पूँजीपतियों को राज्य की सहायता की ज़रूरत होती है। हर देश की सरकारों की तरह अमेरिका भी आम लोगों के दम पर इकट्ठे किए गये राजस्व का बड़ा हिस्सा पूँजीपतियो को बेलआउट पैकेज देने में लगा हुआ है।

इन तथ्य और आँकड़ों की रोशनी मे साफ है कि विश्व को लोकतन्त्र व शान्ति का पाठ पढ़ने वाला अमेरिका खुद अपनी जनता को बेरोज़गारी, ग़रीबी, भूखमरी, अपराध से निजात नहीं दिला पाया। दूसरी तरफ शान्तिदूत ओबामा की असलियत ये है कि जिस हफ़्ते ओबामा को नोबल शान्ति पुरस्कार दिया गया, उसी हफ़्ते अमेरिकी सीनेट ने अपने इतिहास में सबसे बड़ा सैन्य बजट पारित किया 626 अरब डॉलर। और बुशकालीन युद्धनीति में कोई फरेबदल नहीं किया गया और इस कारण आज भी अफगान-इराक युद्ध में अमेरिकी सेना वहाँ की निर्दोष जनता को 'शान्ति का अमेरिकी पाठ' पढ़ा रही है इन हालतों से साफ है कि पूँजीवादी मीडिया द्वारा जिस अमेरिका समाज की चकाचौंध दिखाई जाती है उससे अलग एक और अमेरिकी समाज है जो पूँजीवाद की लाइलाज बीमारी बेरोज़गारी, ग़रीबी आदि समस्या से संकटग्रस्त है।

अपने समाज के प्रति आलोचनात्मक नज़रिया हमारे भीतर पैदायशी नहीं होता। हमारी ज़िन्दगी में कुछ ऐसे क्षण रहे होंगे (कोई महीना या कोई साल) जब कुछ प्रश्न हमारे सामने प्रस्तुत हुए होंगे, उन्होंने हमें चौंकाया होगा, जिसके बाद हमने अपनी चेतना में गहरे जड़ें जमा चुकी कुछ आस्थाओं पर सवाल उठाये होंगे – वे आस्थाएँ जो पारिवारिक पूर्वाग्रह, रूढ़िवादी शिक्षा, अख़बारों, रेडियो या टेलीविज़न के रास्ते हमारी चेतना में पैबस्त हुई थीं। इससे एक सीधा-सा निष्कर्ष यह निकलता है कि हम सभी के ऊपर एक महती ज़िम्मेदारी है कि हम लोगों के सामने ऐसी सूचनाएँ लेकर जायें जो उनके पास नहीं हैं, ऐसी सूचनाएँ जो उन्हें लम्बे समय से चले आ रहे अपने विचारों पर दोबारा सोचने के लिए विवश करने की क्षमता रखती हों।

– हॉवर्ड ज़िन

गतिविधि बुलेटिन

राष्ट्रीय शहरी रोज़गार गारण्टी अभियान देश के अलग-अलग हिस्सों में ज़ोर-शोर से जारी

'हर हाथ को काम दो वरना गद्दी छोड़ दो'

नौजवान भारत सभा व **दिशा छात्र संगठन** विगत छह माह से राष्ट्रीय शहरी रोज़गार गारण्टी अभियान चला रहे हैं। इस अभियान के तहत उत्तर प्रदेश के लखनऊ, गोरखपुर, नोएडा, ग़ाज़ियाबाद आदि क्षेत्रों में, पंजाब के लुधियाना और चण्डीगढ़, बंगाल के कोलकाता, महाराष्ट्र के मुम्बई और दिल्ली में जगह-जगह अभियान टोली नुक्कड़ सभाओं, घर-घर अभियान, सांस्कृतिक कार्यक्रम और साइकिल यात्राओं द्वारा रोज़गार के अधिकार को शहरी बेरोज़गारों और ग़रीबों के बुनियादी हक़ के तौर पर स्थापित करने की माँग को प्रचारित कर रही है। इस अभियान के तहत दिल्ली के करावल नगर, मुस्तफाबाद बाद आदि इलाकों में नुक्कड़ सभाओं, क्रान्तिकारी गीतों व सांस्कृतिक कार्यक्रमों, पोस्टरों आदि के जरिये रोज़गार गारण्टी के सन्देश को हर शहरी ग़रीब और बेरोज़गार तक पहुँचाया जा रहा है।

मालूम हो कि ग्रामीण बेरोज़गारों के लिए रोज़गार की योजना महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी क़ानून में सरकार ने यह माना है कि ग्रामीण आबादी को रोज़गार का अधिकार है। नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन यह माँग करते हुए इस अभियान को चला रहे हैं कि यदि ग्रामीण ग़रीबों के रोज़गार को सरकार ने अपनी ज़िम्मेदारी माना है, हालाँकि साल में सौ दिन के ही लिए, तो शहर के ग़रीबों और बेरोज़गारों को भी यह हक़ मिलना चाहिए। ऐसा ख़ास तौर पर इसलिए भी होना चाहिए कि शहर में बेरोज़गारी का आलम गाँवों से भी भयंकर है। इस अभियान के तहत वितरित किये जा रहे परचे में स्पष्ट शब्दों में बताया गया है कि रोज़गार का हक आम जनता का जन्मसिद्ध अधिकार है, चाहे वह गाँवों में रहती हो या शहरों में। यह सवाल और भी प्रासंगिक नजर आता है जब हम कुछ बुनियादी आँकड़ों पर निगाह डालते हैं। आज शहरों में बेरोज़गारी की वृद्धि दर करीब 10 प्रतिशत है। गाँवों में यह 7 प्रतिशत से नीचे है। शहरों में काम करने योग्य हर 1000 लोगों में से महज 337 लोगों के पास रोज़गार है, जबकि गाँवों में यह संख्या 417 है। शहर के कुल युवाओं में से 60 प्रतिशत बेरोज़गार हैं जबकि गाँवों में यह हिस्सा 45 प्रतिशत है। शहरी भारत में हर वर्ष 1 करोड़ नये बेरोज़गार जुड़ते हैं जो काम की तलाश में रहते हैं। शहरी भारत में काम करने वाले योग्य लोगों की आबादी करीब 3 प्रतिशत प्रति वर्ष की रफ़्तार से बढ़ रही है, जबकि रोज़गार पैदा होने की बात तो दूर वे तेजी से घट रहे हैं। शहरों में जो आबादी रोज़गार-प्राप्त है उसमें से करीब 40 प्रतिशत ठेका, दिहाड़ी या पीस रेट पर काम कर रही है और उसे साल के आधे समय भी रोज़गार प्राप्त नहीं होता। लेकिन चूँकि रोज़गारशुदा होने की सरकारी परिभाषा यह है कि अगर कोई व्यक्ति साल के 73 दिन 8 घण्टे काम करता है तो उसे रोजग़ारशुदा माना जाता है, इसलिए यह आबादी रोजग़ारशुदा मान ली जाती है। क़ायदे से यह आबादी अर्द्ध-बेरोज़गारों में गिनी जानी चाहिए। अगर इस आबादी को बेरोज़गारों की आबादी में जोड़ दें तो शहरों की कुल आबादी का 80 फीसदी या तो बेरोज़गार है या अर्द्धबेरोज़गार। ऐसे में शहरों के बेरोज़गारों के लिए रोज़गार गारण्टी करना सरकार की जिम्मेदारी बनती है। इस ज़िम्मेदारी को पूरा करके सरकार कोई उपकार नहीं करेगी और न ही इस भावी योजना के तहत मिलने वाला 100-200 दिनों का रोज़गार शहर के ग़रीबों को धन्नासेठ बना देगा। यह तो न्यूनतम स्तर पर जीविकोपार्जन को भी सुनिश्चित नहीं कर सकता। यह महज़ एक फौरी राहत दे सकता है इसलिए इसे एक मध्यवर्ती माँग से अधिक का दर्जा नहीं दिया जा सकता। वास्तव में पूरे समाज को ग़रीबी और बेरोज़गारी के दंश से मुक्ति एक ऐसी व्यवस्था में ही मिल सकती है जिसमें उत्पादक वर्ग ही सत्ता पर काबिज़ हों और हर निर्णय लेने का अधिकार उनके हाथ में हो।

शहरी रोज़गार गारण्टी अभियान के स्वयंसेवक दस्ते घर-घर पहुँचकर हस्ताक्षर भी जुटा रहे हैं। आने वाली 1 मई, यानी मज़दूर दिवस के दिन देश के अलग-अलग हिस्सों से हज़ारों की संख्या में मज़दूर, छात्र-युवा और स्त्रियाँ दिल्ली में जन्तर-मन्तर पर इकट्ठा होंगे और सरकार को माँग-पत्रक और लाखों हस्ताक्षरों के साथ एक ज्ञापन सौंपेंगे। शहरी रोज़गार गारण्टी अभियान द्वारा उठायी गयी पाँच मांगें इस प्रकार हैं

1. नरेगा की तर्ज पर शहरी बेरोज़गारों और ग़रीबों के लिए शहरी रोज़गार गारण्टी योजना बनायी और लागू की जाए।

2. इस योजना के तहत शहरी बेरोज़गारों को साल में कम से कम 200 दिनों का रोज़गार दिया जाय।

3. इस योजना में मिलने वाले काम पर न्यूनतम मज़दूरी के मानकों के अनुसार भुगतान किया जाए।

4. इस योजना के तहत रोज़गार न दे पाने की सूरत में बेरोज़गारी भत्ता दिया जाए, जो जीविकोपार्जन के न्यूनतम स्तर को क़ायम रख पाने के लिये पर्याप्त हो।

5. इस योजना को पूरे भारत में लागू किया जाय।

– आह्वान टीम

चन्द्रशेखर आज़ाद के शहादत दिवस (27 फरवरी) से भगतसिंह के शहादत दिवस (23 मार्च) तक दिल्ली में चला

क्रान्तिकारी जागृति अभियान

आज़ादी के 62 साल बाद का हिन्दुस्तान क्या वैसा ही है जिसका सपना दिलों में लेकर चंद्रशेखर आज़ाद, भगतसिंह, और उनके हज़ारों क्रान्तिकारी साथियों ने हँसते-हँसते मौत को गले लगाया था? जानलेवा महँगाई, बेरोज़गारी, देशी-विदेशी पूँजीपतियों को लूट की खुली छूट, ग़रीबी के महासागर में खड़ी ऐयाशी की मीनारें, क़दम-क़दम पर फैला भ्रष्टाचार क्या यही है शहीदों के सपनों का हिन्दुस्तान? क्या देश के करोड़ों-करोड़ मेहनतकश और नौजवान इस अन्यायी और ज़ालिम व्यवस्था में ऐसे ही घुट-घुटकर जीते रहेंगे?

इन्हीं जलते सवालों को लेकर **नौजवान भारत सभा, बिगुल मज़दूर दस्ता, स्त्री मज़दूर संगठन** और **जागरूक नागरिक मंच** के कार्यकर्ता 'क्रान्तिकारी जागृति अभियान' के दौरान लोगों के बीच गये। और उन्होंने इन सवालों के जवाब भी लोगों के बीच रखे। एक महीने के दौरान हुई दर्जनों सभाओं और कार्यक्रमों तथा बाँटे गये पर्चों में अभियान टोली ने कहा कि भगतसिंह और उनके साथियों की शहादत की 80वीं बरसी का यही सन्देश है कि हम मेहनतकश इन महान इन्क़लाबियों के जीवन और विचारों से प्रेरणा लेकर पस्तहिम्मती के अँधेरे से बाहर आयें और पूँजी की गुलामी की बेड़ियों को तोड़ने के लिए कमर कसकर उठ खड़े हों।

यह अभियान मुख्य रूप से उत्तर-पश्चिम दिल्ली के समयपुर, बादली, शाहाबाद डेयरी, नरेला और रोहिणी के विभिन्न इलाकों में तथा दिल्ली की सीमा से लगे हरियाणा के कुण्डली औद्योगिक क्षेत्र और उससे लगी मज़दूर बस्तियों में चलाया गया। अभियान का मुख्य ज़ोर क्रान्तिकारियों के विचारों को मज़दूरों के बीच लेकर जाने और एक नयी क्रान्तिकारी शुरुआत के लिए मज़दूरों को जगाने पर था। अभियान टोली ने इस बात को रखा कि भगतसिंह और उनके साथी एक ऐसी आज़ादी की बात करते थे जिसमें हुकूमत की बागडोर वास्तव में मज़दूरों के हाथ में हो। वे अंग्रेज़ी गुलामी के साथ ही पूँजीवाद के ख़ात्मे की बात कर रहे थे। वे एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था क़ायम करना चाहते थे जिसमें उत्पादन मुनाफ़े के लिए नहीं, बल्कि समाज की ज़रूरत के हिसाब से हो, जिसमें सबको रोज़गार मिले, सभी बच्चों को एक समान मुफ़्त शिक्षा और मुफ़्त दवा-इलाज मिले।

अभियान की शुरुआत बादली के राजा विहार इलाके की मज़दूर बस्ती में 27 फरवरी को चन्द्रशेखर आज़ाद की याद में हुए कार्यक्रम से हुई। बस्ती की मुख्य सड़क के किनारे मंच लगाकर हुए इस कार्यक्रम में सैकड़ों लोगों ने भाग लिया। करीब तीन घण्टे तक चले कार्यक्रम में दो छोटे नाटक और क्रान्तिकारी गीत पेश किये गये और कार्यकर्ताओं ने विस्तार से मज़दूरों की ज़िन्दगी की चर्चा करते हुए अपने हक़ों के लिए संघर्ष के वास्ते एकजुट होने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि आज बारह-चौदह घण्टे की दिहाड़ी खटने के बाद भी मज़दूरों की बुनियादी ज़रूरतें पूरी नहीं होतीं। सरकार के बनाये हुए श्रम क़ानूनों के हिसाब से हमें जो मिलना चाहिए, वह भी नहीं मिलता। यूनियनों के नेता मालिकों के दलाल हो गये हैं। चुनावी पार्टियाँ पूँजीपतियों की टुकड़खोर हैं। इस देश की सारी तरक्की मेहनतकशों की बदौलत है, पर उन्हें इस तरक्की की जूठन भी नहीं मिलती। अब हमें एक नयी शुरुआत करनी ही होगी।

इससे पहले 22 फरवरी से ही कार्यक्रम की तैयारी के लिए अभियान टोली ने सूरज पार्क और राजा विहार की बस्तियों में प्रचार शुरू कर दिया था। मज़दूरों के काम पर निकलने से पहले सुबह 7 से 9 बजे के बीच गलियों में नारे लगाते हुए और छोटी-छोटी नुक्कड़ सभाएँ करते हुए मज़दूरों और उनके परिवारों से सम्पर्क किया जाता था तथा बड़े पैमाने पर पर्चे बाँटे जाते थे। दिन में कारखाना गेटों के आसपास सभाएँ की जातीं और फिर शाम को काम से लौटते हुए मज़दूरों के बीच बात रखने तथा पर्चे बाँटने का कार्यक्रम चलता। इस तरह पूरे इलाके की अधिकतम मेहनतकश आबादी तक पहुँचने का प्रयास किया गया।

अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस (8 मार्च) के मौके पर 7 मार्च को राजा विहार में सांस्कृतिक कार्यक्रम और जनसभा की गयी। इस मौके पर खास तौर पर तैयार किये गये नाटक 'कहानी एक मेहनतकश औरत की' का भी मंचन किया गया। इस मौके पर **स्त्री मज़दूर संगठन** की कार्यकर्ताओं ने मज़दूर औरतों का आह्वान करते हुए कहा कि गुलामी की नींद सोने और किस्मत का रोना रोने का समय बीत चुका है। ज़ोरो-जुल्म के दम घोंटने वाले माहौल के ख़िलाफ़ एकजुट होकर आवाज़ उठाने का समय आ गया है। हमें मज़दूरों के हक की सभी लड़ाइयों में कन्धे से कन्धा मिलाकर शामिल होना होगा। साथ ही औरत मज़दूरों की कुछ अलग समस्याएँ और अलग माँगें भी हैं। इसलिए हमें अपना अलग संगठन भी बनाना होगा। इसीलिए स्त्री मज़दूर संगठन बनाकर एक नयी शुरुआत की जा रही है। औरतों को समाज और घर के भीतर भी हक़ और बराबरी की लड़ाई लड़नी है। मर्द मज़दूर साथियों से हमारा यही कहना है कि हमें गुलाम समझोगे तो तुम भी गुलाम बने रहोगे। मेहनतकश औरत-मर्द मिलकर लड़ेंगे, तभी वे अपनी लड़ाई जीत पायेंगे।

14 मार्च को शाहाबाद डेयरी इलाके के मुख्य बाज़ार में एक बड़ी जनसभा की

गयी। इससे पहले भी पूरे इलाके में कई दिनों तक सुबह से शाम तक सघन प्रचार और जनसम्पर्क अभियान चलाया गया।

15 से 18 मार्च तक अभियान टोली ने नरेला, भोरगढ़, शाहपुर गढ़ी और कुण्डली तथा प्याऊ मनियारी के मज़दूर इलाकों में प्रचार अभियान चलाया तथा हज़ारों पर्चे बाँटे।

21 मार्च को शाहाबाद डेयरी में ही तीन झुग्गी बस्तियों के बीच के एक मैदान में बड़ी जनसभा और सांस्कृतिक कार्यक्रम किया गया जिसके बाद एक विशाल मशाल जुलूस निकाला गया। जुलूस में स्थानीय बस्तियों के सैकड़ों स्त्री, पुरुष मज़दूर, नौजवान और बच्चे भी शामिल हुए। 'भगतसिंह को याद करेंगे, जुल्म नहीं बर्दाश्त करेंगे', 'भगतसिंह तुम ज़िन्दा हो, हम सबके संकल्पों में', 'भगतसिंह का सपना आज भी अधूरा, मेहनतकश और नौजवान उसे करेंगे पूरा' जैसे गगनभेदी नारे लगाते हुए जुलूस की मशालों से पूरी बस्ती रौशन हो उठी और सबके दिल जोश से भर उठे।

22 और 23 मार्च को रोहिणी के विभिन्न सेक्टरों में साइकिल रैली निकाली गयी तथा जगह-जगह नुक्कड़ सभाएँ की गयीं। 23 मार्च की शाम को राजा विहार की बस्ती से मशाल जुलूस निकाला गया जो पूरे राजा विहार और बादली इण्डस्ट्रियल एरिया का चक्कर लगाता हुआ राजा विहार के मैदान में आकर समाप्त हुआ।

– दिल्ली संवाददाता

पंजाब में मनाया गया 23 मार्च 1931 के शहीदों का शहादत दिवस

नौजवान भारत सभा ने पंजाब के विभिन्न क्षेत्रों – लुधियाना, मण्डी गोबिन्दगढ़, माछीवाड़ा, पखोवाल, रायकोट, जगराओं, नवाँ शहर, जोनेवाल, खन्ना, अलोड़ गाँव, जोनेवाल गाँव में महान शहीदों भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव की शहादत की बरसी पर ज़ोरदार प्रचार अभियान चलाया। हज़ारों लोगों तक शहीदों के विचारों को पहुँचाया गया। इस अवसर पर पंजाबी और हिन्दी भाषा में बड़े पैमाने पर पर्चा भी बाँटा गया। शहीद भगतसिंह की तस्वीर वाला एक अकर्षक पोस्टर पंजाब के अनेक शहरों और गाँवों में चिपकाया गया। लुधियाना, मण्डी गोबिन्दगढ़ और माछीवाड़ा में क्रान्तिकारी नाटकों और गीतों के कार्यक्रमों के ज़रिये शहीदों को श्रद्धांजलि की गयी।

लुधियाना में नौभास के सहयोग से कारख़ाना मज़दूर यूनियन ने समराला चौक के पास ई.डब्ल्यू.एस. कालोनी में 21 मार्च को क्रान्तिकारी सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया। इसकी तैयारी के लिए मज़दूर बस्तियों के बेड़ों और मण्डियों में पर्चे बाँटे गये। बेड़ों में मीटिंगें की गयीं। कमरे-कमरे जाकर मज़दूरों को कार्यक्रम में पहुँचने का सन्देश दिया गया। कार्यक्रम की शुरुआत क्रान्तिकारी गीतों से हुई। इसके बाद शहीद भगतसिंह के अन्तिम जेल जीवन पर आधारित दविन्दर दमन का लिखा नाटक "शहादत से पहले" और पूँजीवादी संसदीय व्यवस्था के ढोंग के बारे में गुरशरन सिंह का लिखा नाटक "हवाई गोले" पेश किया गया। कारख़ाना मज़दूर यूनियन लुधियाना के संयोजक राजविन्दर ने सभा को सम्बोधित करते हुए कहा कि शहीदों का सपना पूरा करने के लिए ज़रूरी है कि हम जातियों, धर्मों और इलाक़ों के झगड़ों से ऊपर उठकर मज़दूरों की वर्गीय एकता क़ायम करें।

नौभास की मण्डी गोबिन्दगढ़ इकाई द्वारा शहर के संगतपुरा मुहल्ले में 22 मार्च की शाम को क्रान्तिकारी नाटकों व गीतों के कार्यक्रम का आयोजन किया गया। मण्डी गोबिन्दगढ़, खन्ना तथा इलाक़े के कुछ गाँवों में बड़े पैमाने पर पर्चा बाँटकर लोगों तक क्रान्तिकारी शहीदों के विचारों को पहुँचाया गया और शहीदों के सपने पूरा करने के लिए आगे आने के लिए उनका आह्वान किया गया।

माछीवाड़ा की इन्दिरा कालोनी में नौभास द्वारा क्रान्तिकारी सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया गया। 27 मार्च की शाम को कार्यक्रम शुरू होने से पहले नौजवानों द्वारा मशाल जुलूस निकाला गया। "इन्क़लाब ज़िन्दाबाद", "शहीद भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु अमर रहें", "अमर शहीदों का पैग़ाम, जारी रखना है संग्राम" आदि नारे बुलन्द करते हुए नौजवान स्त्री-पुरुषों का यह जुलूस माछीवाड़ी की सड़कों और गलियों से गुज़रा। लोगों ने घरों से निकलकर मशाल जुलूस का स्वागत किया। नौजवानों ने मशाल जुलूस के दौरान लोगों में शहीदों के विचारों का परिचय देता पर्चा भी बाँटा।

– पंजाब संवाददाता

लखनऊ में साइकिल रैली तथा प्रदर्शनी

दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा की ओर से लखनऊ के खदरा इलाके में 23 मार्च को साइकिल रैली निकाली गयी तथा जगह-जगह सभाएँ करके लोगों तक शहीदों के सपनों और विचारों को पहुँचाया गया और एक नये इन्क़लाब के लिए आगे आने का आह्वान किया गया। साइकिलों पर नारे लिखी हुई तख्तियाँ लगाकर नौजवानों की टोली ललई चौराहा, दीनदयाल नगर, शिवनगर आदि में छोटी-बड़ी सभाएँ करते हुए बड़ी पकड़िया पर पहुँची जहाँ एक बड़ी सभा की गयी और क्रान्तिकारी गीत प्रस्तुत किये गये। यहाँ नौजवानों का आह्वान करते हुए पोस्टरों की प्रदर्शनी और क्रान्तिकारी साहित्य की प्रदर्शनी भी आयोजित की गयी। सभी कार्यक्रमों में स्थानीय नागरिक और नौजवान उत्साह के साथ शामिल हुए।

सभाओं में तथा इस अवसर पर बाँटे गये पर्चे में कहा गया कि आज के इस दमघोंटू माहौल को बदल डालने और एक नया हिन्दुस्तान तथा नयी ज़िन्दगी बनाने के लिए नौजवानों को आपसी भेदभाव भुलाकर एकजुट संघर्ष करना होगा। यही शहीदों को सच्ची श्रद्धांजलि होगी। **– लखनऊ संवाददाता**

मक्सिम गोर्की के जन्मदिवस (29 मार्च) के अवसर पर

क्रान्तिकारी सर्वहारा का मानवतावाद सीधा-सादा है। वह मानवता के प्रति प्यार के सुन्दर शब्दों का वाग्जाल नहीं रचते। इसका लक्ष्य है सारी दुनिया के सर्वहारा को पूँजीवाद के शर्मनाक, ख़ूनी, पागल जुए से मुक्त करना और मनुष्य को यह सिखाना कि वह स्वयं को ख़रीदा-बेचा जाने वाला माल या विषयासक्त लोगों की ऐयाशी के लिए कच्चा माल न समझे। पूँजीवाद दुनिया पर उसी तरह अतिचार करता है जैसे कोई असमर्थ बूढ़ा आदमी किसी युवा स्वस्थ औरत पर अतिचार करे और बदले में गर्भाधान नहीं बुढ़ापे की बीमारियाँ दे। सर्वहारा मानवतावाद प्यार की गीतमय घोषणाओं की माँग नहीं करता, वह प्रत्येक मज़दूर से अपने ऐतिहासिक दायित्व के प्रति चेतना चाहता है और सत्ता पर उसका हक़ चाहता है... विषयलोलुपों, परजीवियों, फ़ासिस्टों, हत्यारों, सर्वहारा वर्ग के दग़ाबाज़ों के प्रति तीव्र घृणा चाहता है। वह उन लोगों के प्रति घृणा चाहता है जो दु:ख का कारण हैं और जो हज़ारों-लाखों लोगों के दु:ख पर पनपे हैं।

– मक्सिम गोर्की (कल्चर ऐण्ड द पीपुल)

विहान आपके बीच आया है एक अँधेरे समय में अँधेरे के बारे में सच्चाइयाँ बयान करते और उजाले की उम्मीदों के गीतों को लेकर

विहान पेश करता है :

उजाले के दरीचे

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, मुक्तिबोध, शशिप्रकाश, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, पॉल रॉबसन के क्रान्तिकारी गीत

प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें:

जनचेजना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ

फोन: (0522) 2786782

विहान, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर

दिल्ली-110094, फोन 011-64623928

क्या जुल्मतों के दौर में भी गीत गाये जायेंगे
हाँ, जुल्मतों के दौर के ही गीत गाये जायेंगे।
– बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

Side A:

1 शहीदों के लिए – शशिप्रकाश
2 दरबारे-वतन में – फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
3 आँधी के झूले पर झूलो – गजानन माधव मुक्तिबोध
4 साथियों! आगे बढ़ो – शशिप्रकाश
5 तोड़ो ये दीवारें – शशिप्रकाश
6 चलो फिर से मुस्कराएँ – फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
7 जारी है – सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
8 पैसा – विहान टोली

Side B:

1 सिपाही का मर्सिया – फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
2 रहबरे-मुल्को कौम बता – फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
3 बीस्तीर्णो दुपारेर – पॉल रोब्सन
4 रउरा सासना के बाटे ना – गोरख पाण्डेय
5 दुनिया के हर सवाल के – शशिप्रकाश
6 इन्तेसाब – फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
7 हम मेहनतकश – फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
8 युद्धबन्दियों का गीत – शशिप्रकाश
9 इण्टरनेशनल – यूजीन पोतिए

विहान टोली

मुख्य स्वर और इलेक्ट्रिक एवं अकाउस्टिक गिटार – *अभिनव*
स्वर एवं ढपली – *तपीश* तबला – *नवकिशलय*
सहायक स्वर – *पवन, प्रसेन, अजय, लता, योगेश, विजय और गौरव*

कैसेट (90 मिनट) - रु. 60, ऑडियो सीडी - रु. 125

ईमेल: vihaan_disha@rediffmail.com
वेबसाइट: www.betarecords.com/vihaan

शहरी रोज़गार गारण्टी अभियान

रोज़गार का हक़ आम जनता का जन्मसिद्ध अधिकार है, चाहे वह गाँवों में रहती हो या शहरों में। यह सवाल और भी प्रासंगिक नज़र आता है जब हम कुछ बुनियादी आँकड़ों पर निगाह डालते हैं। आज शहरों में बेरोज़गारी गाँवों के मुकाबले कहीं तेज़ रफ़्तार से बढ़ रही है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक आज शहरों में बेरोज़गारी की वृद्धि दर करीब 10 प्रतिशत है। गाँवों में यह 7 प्रतिशत से भी नीचे है। शहरों में काम करने योग्य हर 1000 लोगों में से महज़ 337 लोगों के पास रोज़गार है, जबकि गाँवों में यह संख्या 417 है। शहर के कुल युवाओं में से 60 प्रतिशत बेरोज़गार हैं जबकि गाँवों में यह हिस्सा 45 प्रतिशत है। शहरी भारत में हर वर्ष 1 करोड़ नये बेरोज़गार जुड़ते हैं जो काम की तलाश में रहते हैं। शहरी भारत में काम करने वाले योग्य लोगों की आबादी करीब 3 प्रतिशत प्रति वर्ष की रफ़्तार से बढ़ रही है, जबकि रोज़गार पैदा होने की बात तो दूर, वे तेज़ी से घट रहे हैं। शहरों में जो आबादी रोज़गार प्राप्त है उसमें से करीब 40 प्रतिशत ठेका, दिहाड़ी या पीस रेट पर काम कर रही है और उसे साल के आधे समय भी रोज़गार प्राप्त नहीं होता।

...हम सभी शहरी ग़रीबों और बेरोज़गारों और साथ ही इंसाफ़पसन्द नागरिकों का आह्वान करते हैं कि शहरी रोज़गार गारण्टी योजना के लिए सरकार को झुकाने के लिए एक आन्दोलन खड़ा करें।

हम भारत की सरकार से माँग करते हैं:

1. नरेगा की तर्ज़ पर शहरी बेरोज़गारों और ग़रीबों के लिए शहरी रोज़गार गारण्टी योजना बनाए और उसे लागू करे।

2. इस योजना के तहत शहरी बेरोज़गारों को साल में कम से कम 200 दिनों का रोज़गार दिया जाय।

3. इस योजना में मिलने वाले काम पर न्यूनतम मज़दूरी के मानकों के अनुसार भुगतान किया जाय।

4. इस योजना के तहत रोज़गार न दे पाने की सूरत में बेरोज़गारी भत्ता दिया जाय जो जीविकोपार्जन के न्यूनतम स्तर को क़ायम रख पाने के लिए पर्याप्त हो।

5. इस योजना को पूरे भारत में लागू किया जाय।

ऐसी योजना के लागू होने पर शहरों में विकास के कार्यों को तेज़ी से पूरा किया जा सकता है और साथ ही करोड़ों की संख्या में बेरोज़गारों को रोज़गार दिया जा सकता है। हम मानते हैं कि यह बेरोज़गारी और ग़रीबी की समस्या का स्थायी समाधान नहीं है, फिर भी यह करोड़ों लोगों को भुखमरी, अर्द्धभुखमरी और आत्महत्या के दलदल में गिरने से रोक सकता है। इस समस्या का समाधान तो हर व्यक्ति को स्थायी रोज़गार द्वारा सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा देने के ज़रिये ही किया जा सकता है। लेकिन फिलहाल 200 दिनों के रोज़गार की माँग आज एक वाजिब मध्यवर्ती माँग है और यह भारत के हर नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है। **यदि सरकार लोगों को रोज़गार, शिक्षा, चिकित्सा और आवास जैसी बुनियादी चीज़ें नहीं दे सकती है तो वह किसलिए है?क्या सिर्फ़ कारपोरेट घरानों और पूँजीपतियों की सेवा के लिए?**

हमें अपने इस अधिकार को लेने के लिए हर कीमत देकर संघर्ष करना होगा! वरना, आने वाले समय में महँगाई, भुखमरी, कुपोषण के हाथों जान गँवाने के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचेगा! **इसलिए शहरी रोज़गार गारण्टी के हक़ के लिए एकजुट हो जाओ! आगे आओ! संघर्ष करो!**

दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा

की ओर से चलाये जा रहे शहरी रोज़गार गारण्टी अभियान के पर्चे के अंश

लाखों हस्ताक्षरों के साथ सरकार को माँगपत्रक सौंपने के लिए 1 मई 2010 को

जन्तर-मन्तर चलो!

हर हाथ को काम दो! वरना गद्दी छोड़ दो!

शिक्षा और रोज़गार! हमारा जन्मसिद्ध अधिकार!

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक एवं सम्पादक अभिनव सिन्हा द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित कराकर बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-94 से प्रकाशित किया।